नानेश वाणी-35

सर्व-त्याग की साधना

प्रवचनकार

आचार्य श्री नानेश

संस्करण

प्रथम, स 2058

प्रति

1100

मूल्य

रु 30-00 मात्र

अर्थ सौजन्य

श्री प्रकाशचंदजी कैलाशचंदजी श्यामलालजी गन्ना

Bharat Jewellers

Ashoka Road, MYSORE

Karnataka

प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

'समता भवन' रामपुरिया मार्ग

बीकानेर-334 005 (राजस्थान)

मुद्रक

होनहार हाई-टेक प्रिन्ट्स

241/1, दूसरा मेन रोड, रामचद्रपुरम्,

बेगलोर-560 021, फोन 312 2457

प्रकाशकीय

हुक्मगच्छ के अष्टमाचार्य युग पुरुष श्री नानेश विश्व की उन विरल विभूतियो मे हैं जिन्होने अपने व्यक्तित्व ओर कृतित्व से समाज को सम्यक् जीवन जीने की वह राह दिखाई जिस पर चलकर भव्य आत्माएँ अपने कर्मो का क्षय कर मोक्ष की अधिकारिणी बन सकती हैं । यद्यपि आचार्य श्री जी के भौतिक व्यक्तितत्व का अवसान हो चुका है तथापि उनके द्वारा चलाये गये विविध अभियानों में वह सदा ही प्रतिच्छायित होता रहेगा । इस प्रकार उनका वह व्यक्त रूप ही पर्यवसित होकर उस कृतित्व में समाहित हो गया है जो उनके द्वारा विरचित साहित्य के रूप मे उपलब्ध है । एक क्रान्तिदर्शी आचार्य का यह प्रदेय साहित्य की वह अनुपम निधि बन गया है जो सासारिक प्राणियों के लिये प्रकाश स्तभ का कार्य करता रहेगा । इस स्तभ से विकीर्ण होने वाली प्रकाश रश्मिया युगों-युगो तक आलोक धारा प्रवाहित करती रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि न तो उन साहित्य रश्मियो को क्षीण होने दिया जाये न ही उनकी उपलब्धता बाधित होने दी जाये वरन आवश्यक यह भी है कि सर्व सामान्यजनो हित उनकी सुलभता सुनिश्चित रखी जाये । इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ ने उस अनमोल साहित्यिक धरोहर को नानेशवाणी पुस्तक श्रृखला के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय किया ।

इस सदर्भ मे बेंगलोर निवासी सुश्रावक श्री सोहनलालजी सिपाणी ने अर्थ सबधी व्यवस्था मे जो सद्प्रयत्न किया वह विशेष रूप से उल्लेखनीय है ।

प्रस्तुत कृति पूर्व मे जीवन और धर्म नाम से प्रकाशित पुस्तक की द्वितीय आवृत्ति है । इसमे कुछ सशोधन परिस्करण भी हुआ है । इसके सम्पादक श्री शान्तिचन्दजी मेहता के अथक परिश्रम के साथ-साथ इस कृति के प्रकाशनार्थ अर्थ प्रदान करने वाले मैसूर (भीम, राजस्थान) निवासी उदारमना सुश्रावक श्री प्रकाशचन्दजी, श्री कैलाशचन्दजी, श्री श्यामलालजी गन्ना के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना दायित्व समझता हूँ ।

यद्यपि सम्पादन-प्रकाशन मे पूरी सावधानी रखी गई ह
हो तो सुधी पाठको से निवेदन है कि वे हमे अवगत कराये त
भूल का परिमार्जन किया जा सके ।

एक दीप आदित्य बन गया

(आचार्य श्री नानेश संक्षिप्त परिचय)

एक छोटा दीप,
एक नन्हा दीप,
सदा हरता तिमिर जग का
सहज शान्त अभीत।

छोटा सा दीपक, गाव की मिट्टी की सोधी गध से सुवासित सुसस्कारो के नेह से सिचित, निर्मल वर्तिका से सुसज्जित ज्योतिर्धर युगपुरुष श्री जवाहराचार्य के सुशासन मे युवाचार्य श्री गणेशाचार्य से प्रकाश ले अपने चहु ओर परिव्याप्त निबिड अधकार को विदीर्ण करने हेतु प्रज्वलित हो उठा था अग्निज्योति, चन्द्रज्योति, रविज्योति की जाज्वल्यमान परम्परा मे सम्मिलित होने का क्षीण दीपज्योति का दुस्साहस। बलिहारी उस आत्मबल को जो दीपक से दीपक जलाकर अमानिशा को मगलकारी दीपावली मे परिवर्तित कर देने की क्षमता रखता है ? तब यदि नन्हा दीपक "नाना" दीपक, प्रकाश की अजस्र धारा प्रवाहित करने हेतु, नानादिशोन्मुखी हो, नानाविध, सर्वजनहिताय था आचार्य नानेश बन गया था तो आश्चर्य कैसा ? शास्त्रकारो ने कहा भी है-

जह दीवो दीवसय पइप्पए जसो दीवो।
दीवसमा आयरिया दीव्वति परं च दिवंति ॥

और फिर बाल भगवान की परम्परा कोई नई भी तो नही। प्रलय पारावार मे वट वृक्ष के पत्र पर सहज निद्रामग्न बालमुकुन्द साक्षात् ब्रह्म ही तो थे जिन्हे श्रद्धालुजन भक्तिभाव से नमन करते है- "वटस्य पत्रस्य पुट शयानम् बालमुकुदम् शिरसा नमामि" और उन्हीं के सरक्षण मे नव दृष्टि का विकास सभव हुआ था। अज्ञानाधकार के हरण मे महत्व वय, आकार, रूप अथवा वर्ण का नही होता क्योकि "उतमत गुणेहि चेव पविज्जई"। उतमता गुणो से प्राप्त होती है और गुणो की हो पूजा होती है- "गुण पूजास्थान न च लिग न च वय"। यही देखकर तो पूज्य आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा ने पूर्ण आश्वस्तिभाव से आठवे पाट के अधिष्ठता का पद "नानालाल" को देने की पूर्वपीठिका की दिशा मे उन्हे युवाचार्य के पद पर अभिषिक्त किया था भले ही जननी श्रृगार बाई का ममताव्याकुल सशयशील हृदय प्रार्थना करता रहा हो- "ई घणा भोला टावर है, यो पे उतरो मोटो बोझ मती नाखो।"

परन्तु क्या यह बोझ डाला गया था ? दीपक से कोई कहता है - कि चतुर्दिश अधकार को विदीर्ण करने का बोझ तू उठा । वह भार तो सूर्य का उत्तराधिकारी होने के कारण प्रज्वलित दीपक पर स्वत ही आ जाता है। दीपक का अर्थ ही है प्रकाश और प्रकाश का अर्थ है तमहरण का सकल्प । इस की पूर्ति हेतु दीपक का कर्तव्य बन जाता है कि वह अपनी प्रज्वलित वर्तिका से दीपक के बाद दीपक प्रदीप्त कर अवली मे सजाता जाये जिससे सम्पूर्ण जगत् प्रकाशमान हो उठे। इसी सकल्प की पूर्ति मे "नानादीप" ने दीपित सत-सतियो को एक सुदीर्घ श्रृखला ही सर्जित कर दी थी। एक कडी दूसरी से जुडती गई थी। सम्पूर्ण ससार को अपनी ज्योति परिधि मे आवेष्ठित कर लेने के लिये। और जगती का आगन आचार्य श्री के नेश्राय मे दीक्षित दीपको की लम्बी श्रृंखला से सज गया। किसी एक आचार्य की प्रचण्ड उर्जा का यह असदिग्धप्रमाण था। यह चमत्कार भी था क्योकि ज्ञान-साधना और समाज निर्माण का यह कार्य इतने विशाल स्तर पर विगत पाच सौ वर्षो मे भी सम्पन्न नही हुआ था। फिर तत्कालीन परिस्थितिया अन्यत विषम थी। एक अत्यत सीमित साधु-साध्वी वर्ग, साम्प्रदायिक आग्रहो से टकराव, विरोधो की उग्रता एव दुर्बल सघीय व्यवस्था अपने आप मे विकट समस्याए थी। परन्तु "दीवा समा आयरिया पण्णता"-आचार्य उस दीपक के समान होता है जो अपनी प्रज्वलित ज्योतिशिखा से प्रत्येक कोने का तमहरण करने का सामर्थ्य रखता है। अत भीषण झझावात के उस काल मे जब श्रमण सघो एव श्रावक सघो की भावनाए भीषणरूप से आलोडित थी, इस सघ प्रज्वलित दीपक ने साहस पूर्वक घोषणा की थी।

"सघर्ष से ही नवनीत निकलता है और सघर्ष ही विपुल शक्ति का उत्पादक होता है। सघर्ष से भयभीत होने वाला व्यक्ति प्रगति के पद चिन्हो पर नहीं चल सकता"।

और प्रारम्भ हुई थी लडाई -दिये की और तूफान की, जिसमे दीया विजयी हुआ था। झझावत शात हुआ था सद्भाव, स्नेह, सहयोग और समर्पण की मद फुहारो से सम्पूर्ण जन-जीवन स्नात हो निर्मल हो उठा था। तथा सर्वत्र व्यवस्था और अनुशासन का सागर उमगे भरने लगा था।

यह साधना थी, तपस्या थी, सोने की आग मे तपने की । सवत् 2020 के रतलाम चातुर्मास ने यह सिद्ध कर दिया था कि वीतरागी सत अपने पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, जय-पराजय आदि के भावो से मुक्त होते है। सोना तप कर कुन्दन बनता है और सघर्षो मे स्थिरमति रहकर मनस्वी वंदनीय बन जाता है-

मनस्वी कार्यार्थी न गणयति दु·ख न च सुखं।
तप्तं तप्तं पुनरपि पुन· कांचन कान्तवर्णम् ॥

अशाति विरोध और सघर्ष से आलोड़ित जन सागर ने इस अनन्य योगी ने सद्भाव, त्याग, तप और धार्मिक उपलब्धियो का जो नवनीत निकाला उसे अपनी साधना से मानव

मात्र के हितार्थ सहज भाव से वितरित भी कर दिया। हिसा, आतक, विरोध, शोषण पीडा के शमन तथा लोभ, मोह, क्रोध जैसी व्याधियो के उपचार मे यह नवनीत अमृत रसायन सिद्ध हुआ। अपने दिव्य सदेशो द्वारा इस सत ने वर्तमान वैज्ञानिक सभ्यता के व्यामोह के प्रति अभिनव मनुष्य को जिस प्रकार सचेत किया उसी प्रकार की सुन्दर काव्यात्मक निर्देशना राष्ट्रकवि दिनकर की इन पक्तियो मे हुई है-

व्योम से पाताल तक सब कुछ इसे है ज्ञेय,
पर न यह परिचय मनुज का, यह न उसका श्रेय।
श्रेय उसका बुद्धि पर चैतन्य उर की जीत
श्रेय मानव का असीमित मानवो से प्रीत।
एक नर से दूसरे के बीच का व्यवधान
तोड़ दे जो, बस वही ज्ञानी, वही विद्वान।

इस व्यवधान को तोडने की दिशा मे यात्राओ, चातुर्मासो और उद्‌बोधनो के जो आयोजन हुए थे उनके बीच एक दिव्य व्यक्तित्व उभरा था-उन्नत ललाट, तेजयुक्त आनन, सुदृढ ग्रीवा, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु और अनोखे प्रभामडल से दीपित वपु जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दृष्टि की प्रकाश किरणे बरसाता इस सपूर्ण जीव सृष्टि को अपने स्नेहपूर्ण कोमल आवष्ठन मे समेट लेने के लिये आतुर था।

रवि, पवन, मेघ, चदन और सत, भेद अभेद नहीं जानते। स्वभाव से ही अपना अक्षय स्नेह भडार सब के लिये उन्मुक्त रखते है। फिर इस प्रकाशपुज की ज्योति सीमा मे कैसे बधती ? प्रसग अनेक हो सकते है। परन्तु प्रतिबोध की महिमा अभिन्न होती है। इसीलिये सामाजिक उत्क्रान्ति की युगान्तकारी दृष्टि धर्मपालो की अटूट श्रृखला निर्मित कर सकी। इस प्रकार सम्यक्त्व के मत्र के प्रभाव से समाज के निम्नतम स्तर पर बैठे व्यक्ति को भी उच्चतम व्यक्ति के स्तर पर वही आसीन करा सकता था जो मानता हो "कम्मणा बम्भणा होई कम्मुणा होई खतिओ ?" भगवान महावीर की इस वाणी को यदि आचार्य श्री ने चरितार्थ किया तो आश्चर्य कैसा ? हरिकेशबल नामक चाण्डाल के लिये यदि प्रवज्या का विधान हो सकता था, तो जन्म के आधार पर निर्मित वर्ण व्यवस्था की उपयुक्तता तर्कसगत कहाँ बैठती थी ? परिणामस्वरूप व्यापक मानव समाज के प्रति स्नेह, सद्‌भाव और न्याय की जो निर्मल धारा प्रवाहित हुई थी उसमे गुराडिया, नागदा, आक्या और चीकली जैसे ग्रामो के दलित स्नान कर कृतार्थ हो गये थे। पारस गुण अवगुण नहि जानत, कचन करत खरो-तब सत के ससर्ग से सरल हृदय अज्ञानीजन धर्मपाल क्यो नहीं बन सकते थे ? एक राजा भगीरथ ने गगा की पतितपावनी धारा अवतीर्ण करा कर प्राणिमात्र के लिये मुक्ति का द्वार उन्मुक्त कर दिया तो दूसरे भगीरथ ने समता समाज की पुण्यधारा मे मानव मात्र के लिये अवगाहन का मार्ग प्रशस्त कर मानवता की अतुलनीय सेवा की।

एक जड सैद्धान्तिक विचार को सहज पद्धति मे रूपान्तरित कर पाना निश्चय ही चामत्कारिक उपलब्धि थी प्रजातत्र समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता जैसे जटिल, विवादित, बौद्धिक वाग्जाल मे उलझी अवधारणाओ को, सरल, व्यवहारिक, उपयोगी जीवनचर्य बनाकर प्रचलित कर पाना युगपुरुष का ही कार्य हो सकता था। राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक चितन को सैद्धान्तिक आग्रहो से तथा धर्म और दर्शन के तत्वो को पाखड, अतिचार, दुराग्रह और आडम्बर से मुक्त कर तथा उन्हे अन्योन्याश्रित बनाकर इस महायोगी ने आधुनिक युग की विकट समस्याओ का ही सहज समाधान था। प्रस्तुत कर दिया। समता को युगधर्म के रूप मे मान्य एव प्रतिष्ठित कर पाना छोटी बात नही थी। कितनी कठोर साधना, कितना गहन चिन्तन, कितनी गहरी दार्शनिक पैठ और कैसे मनोवैज्ञानिक कौशल की इस हेतु आवश्यकता थी। इसका प्रमाण वह विपुल साहित्य है जिसका निर्माण मानववृत्ति के परिष्कार, पुनर्निर्माण और निर्देशन हेतु इस युगाचार्य ने स्वय किया एव करने की प्रेरणा दी। समीक्षणध्यान की पद्धतियो को आत्म समीक्षण के दर्शन से परमात्म समीक्षण तक पहुँचाने मे आत्मा परमात्मा, जीव ब्रह्म, द्वैत-अद्वैत आदि से सबधित विविध चिन्तन धाराओ का जिस प्रकार समता दर्शन मे समन्वय किया गया, वह स्वय मे उपलब्धि है। एक धर्म विशेष की समझी जाने वाली आचरण शैली को मानव मात्र की आचार सहिता बन सकने वाली दृष्टि निश्चय ही चमत्कारिक थी। इसकी सिद्धि के लिए जन-जन के हृदय को सस्कारित कर यह विचार पुष्ट करना आवश्यक था कि माया के पाच पुत्र काम, क्रोध, मद, मोह और लोभ मनुष्य के अध पतन के मूल कारण है। ये ही आत्मा की परमात्मकता मे व्यवधान डालने वाले भी है-

पॉच चोर गढ़ मंझा, गढ़ लूचै दिवस अरू संझा।
जो गढ़पति मुहकम होई, तो लूटि न सकै कोई ।।

और आचार्य नानेश ऐसे मुहकम गढपति सिद्ध हुए जो रमैया की दुल्हन को बाजार लूटने का कोई अवसर ही लेने नही दे सकता था। ऐसे गढपति की महिमा का बखान करते हुए सत कबीर ने पहले ही कह दिया था -

ऐसा अदभुत मेरा गुरु कथ्या, मैं रह्या उमेषे।
मूसा हस्ती सो लड़ै, कोई बिरला पेषै।
मूसा बैठा बांबि मे, लारे सॉपणि धाई,
उलटि मूसै सांपिण गिली यह अचरज भाई।
नाव मे नदिया डूबी जाई।

आकाश के ऑधे कुए से पाताल की पनिहारन जो जल भरती है उसे कोई बिरला हस ही पीता है।

यह उलटवासी नहीं, सत्य है, तत्व है, सार है, यही वह ज्ञान हैजिसके आलोक मे यह चराचर जगत् किसी रूप मे अर्थवान बनता है। एक नन्हें दीपक से विकीर्ण यह प्रकाश विगत लगभग अर्द्धशती मे विस्तार पाता, प्रचण्डतर होता अपनी दीप्ति के कारण जाज्वल्यमान सूर्य का पर्याय बन गया।

अपने सहज समत्व ज्ञान से दीप्ति कर धरती का आगन ।
कुटिया का वह नन्हा दीपक, एक नया आदित्य गया बन ।।

प्रत्येक जीवन की एक निश्चित अवधि होती है और प्रत्येक सूर्य को एक शाम अस्त होना ही पड़ता है यह प्रकृति का नियम है। परन्तु सूर्य के अस्त होने की महिमा इस तथ्य मे निहित है कि वह प्रखर प्रकाश के साथ अपनी यात्रा पूर्ण करता है और अपने पीछे छोड जाता है एक नये सूर्योदय की चिरन्तन आशा। आचार्य श्री नानेश का अवसान भी ऐसा ही था, सामान्य नहीं, उनके प्रखर व्यक्तित्व के समान ही दिव्य।

अस्ताचलगामी उस सूर्य की सध्यावदना करते साधको ने स्पष्ट देखा था कि एक ज्योति आकाश से सहसा उतरी थी, धर्माचार्य के सूर्य के प्रकोष्ठ मे प्रविष्ठ हुई थी और धरती के उस सूर्य का प्रकाश समेट कर द्विगुणित आभायुक्त हो तीव्रता से पुन आकाश मार्ग से लौट गई थी। यह चमत्कार था और हम जानते है, चमत्कार होते है। वह अवसान चमत्कारी था जो अपने पीछे सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र और सम्यक् दर्शन का ही नहीं, सम्पूर्ण जीवनाचर्या का ऐसा प्रखर आलोक छोड गया जिसमे भव्य आत्माए आत्मोद्धार का मार्ग स्पष्ट देख सकती है।

दीप से आदित्य बना वह दीप अपने पीछे एक और दीप प्रज्जवलित कर गया है रामेश दीप जो उस दिव्य आलोक का गुरु दायित्व अपने सुदृढ कधो पर वहन करने मे पूर्ण सक्षम है दीप की आदित्य बनने की दिशा मे एक और यात्रा प्रारभ हो गई है। साधुमार्ग मे यह परम्परा अविच्छिन्न रूप से चलती रहेगी यह तथ्य उस परम्परा मे आदित्य बने दीप प्रमाजित कर गये है। इस प्रकार अनत आलोक का पारावार हिलारे लेता रहेगा। ऐसा आलोक और चलती रहेगी दीप के आदित्य बनने की यह अविच्छिन्न परम्परा करीब अठारह हजार पॉच सौ वर्षो तक। भगवान महावीर का ऐसा ही कथन है और यही शास्त्र वचन भी है।

- डॉ आदर्श सक्सेना
बी-17, शास्त्री नगर, बीकानेर (राज)

अर्थ सहयोगी परिचय

श्रमण भगवान महावीर के शासन को दिपाने वाले, श्रमण सस्कृति के सजग प्रहरी, जिन शासन प्रद्योतक, समता विभूति, समीक्षण ध्यान योगी, धर्मपाल प्रतिबोधक महामना, महामनीषी, युग एवम् आगम पुरुष आचार्य श्री नानालालजी म सा के सुशिय एवम् पट्टधर व्यसन मुक्ति के प्रबल प्ररेक, प्रशातमना, तपो मूर्ति तरुण तपस्वी आगम रहस्य के परम ज्ञाता आगमज्ञ आचार्य श्री रामलालजी म सा की सुशिष्या परम् विदुषी, मधुर व्याख्यानी महासती श्री निरजनाश्रीजी, विदुषी मधुर व्याख्यानी महासती श्री वनिताश्रीजी म सा , तपस्विनी विद्याभिलाषी महासती श्री सयमप्रभाजी म सा , विद्याभिलाषी महासती श्री सन्मतिशीलाजी म सा , विदुषी महासती विवेकशीलाजी म सा ठाणा-५ का यशस्वी, भव्य और ऐतिहासिक चातुर्मास चन्दन और भव्य महलो की नगरी मैसूर मे सुसम्पन्न हुआ। इस ऐतिहासिक चातुर्मास की सफलता की यादगार मे गन्ना परिवार का मन पुस्तक प्रकाशित कराने का हुआ।

सघ समर्पित, सरलमना आचार्य श्रीजी के अनन्य श्रद्धानिष्ठ सुश्रावक स्वर्गीय श्रीमान् रोशनलालजी गन्ना (भीम) की पुण्य स्मृति मे आदर्श सुश्राविका श्रीमती नजरीबाई गन्ना की सद्प्रेरणा आपके जेष्ठसुपुत्र सरल स्वभावी, सेवाभावी श्रीमान् प्रकाशचदजी गन्ना और आपकी धर्मपत्नी आदर्श सुश्राविका श्रीमती रामुबाईजी गन्ना। द्वितीय सुपुत्र मिलनसार, सेवाभावी श्रीमान् कैलाशचदजी और आपकी धर्मपत्नी आदर्श सेवाभावी श्रीमती चन्द्राबाईजी गन्ना। तृतीय सुपुत्र धर्मनिष्ठ, सेवाभावी, कर्त्तव्य परायण, सरलमना, युवा उत्साही, मिलनसार कर्मठ कार्यकर्ता श्रीमान् श्यामलालजी गन्ना और आपकी धर्मपत्नी आदर्श सुश्राविका श्रीमती उमादेवीजी गन्ना। चतुर्थ सुपुत्र सेवाभावी मिलनसार श्रीमान् गौतमचदजी गन्ना और आपकी धर्मपत्नी आदर्श सुश्राविका श्रीमती सगीताबाईजी गन्ना। पचम सुपुत्र मिलनसार सेवाभावी श्रीमान् दिलीपकुमारजी गन्ना और आपकी धर्मपत्नी आदर्श सुश्राविका श्रीमती मीनाबाईजी गन्ना के अर्थ सौजन्य से प्रस्तुत कृति 'सर्व-त्याग की साधना' नानेश वाणी न 35 आपके हाथ मे है।

श्रीमान् प्रकाशचदजी गन्ना के सुपुत्र श्री जसवतकुमारजी, श्री मनोजकुमारजी, श्री सुनीलकुमारजी, श्री अनीलकुमारजी गन्ना है।

श्रीमान् कैलाशचदजी गन्ना के सुपुत्र श्री राहुलकुमारजी, श्री रोहितकुपमारजी और सुपुत्री रेणुकुमारीजी गन्ना है।

श्रीमान् श्यामलालजी गन्ना के सुपुत्र श्री विवेककुमारजी, श्री विशालकुमारजी गन्ना है।

श्रीमान् गौतमचदजी गन्ना के सुपुत्र श्री आशीषकुमारजी मनीषकुमारजी गन्ना और सुपुत्री वर्षाकुमारीजी गन्ना है।

श्रीमान् दिलीपकुमारजी गन्ना के सुपुत्र श्री भरतकुमारजी गन्ना और सुपुत्री राखीकुमारीजी गन्ना है।

स्वर्गीय श्रीमान् रोशनलालजी सा गन्ना को धार्मिक सस्कार बचपन मे ही अपने पिताजी स्व श्रीमान गोगराजजी सा गन्ना और माताजी स्व श्रीमती सोनीबाईजी गन्ना से विरासत मे मिले।

स्व श्रीमान् गोगराजजी गन्ना के सुपुत्र स्व श्रीमान अर्जुनलालजी, स्व श्रीमान रोशनलालजी, श्रीमान बिरदीचदजी, श्रीमान रतनलालजी गन्ना, श्रीमान शातिलालजी गन्ना है।

आपके मैसूर मे निम्न प्रतिष्ठान है- मनोज ज्वेलर्स, भारत ज्वेलर्स, महावीर ज्वेलर्स, गणेश ज्वेलर्स और एक प्रतिष्ठान आपके के आर पेट मे महावीर ज्वेलर्स के नाम से है। आप मूलत राजस्थान मे राजसमद जिले मे भीम के निवासी है। आपका व्यापार भीम, मैसूर, के आर पेट और टिपटूर मे है।

भीम का सम्पूर्ण गन्ना परिवार धर्मध्यान मे और सेवाकार्य मे हमेशा आगे रहता आया है। यह परिवार धर्ममय सुसस्कारो से रगा हुआ है। गन्ना परिवार से दीक्षित विद्याभिलाषी महासती श्री भावनाश्रीजी म सा साधुमार्गी जैन सघ मे धर्म प्रभावना कर रहे है।

गन्ना परिवार अपनी लक्ष्मी का सदुपयोग जिनशासन के लिए करते रहे, यह (नानेश वाणी क्रमाक-35) 'सर्व-त्याग की साधना' नामक पुस्तक आप सभी के लिए उपयोगी बने, समाज को आप से काफी आशाए है। आशा है भविष्य मे भी आपका सहयोग इसी प्रकार प्राप्त होता रहेगा, इन्ही मगल भावनाओ के साथ,

- सोहनलाल सिपानी

अनुक्रमणिका

सर्व-त्याग की साधना

1

जीवन को धर्म से सजाइये !

- परमात्मा से मन की शिकायत एक प्रकार से स्वय की ही आत्मजागृति के लिये होती है।
- विवेक के साथ जो परमात्मा की प्रार्थना करता है, वह सही ज्ञान के साथ सही विश्वास रखेगा और अपनी आत्मा को सद्गुणो से सवारने का प्रयास करेगा।
- अधार्मिकता को दूर कर, न्याय व समता के आधार पर व्यवस्था करे तो सर्वांगीण रूप से धार्मिकता के विकास के सग आत्मा के उज्ज्वल स्वरूप को जल्दी ही देदीप्यमान वना सकेंगे।
- कर्त्तव्य वुद्धि की प्रमुखता से मोक्ष की उपलव्धि दुर्लभ नहीं रहती ।
- ज्ञान, दर्शन व आचरण की सम्यक् शिक्षा वचपन से प्रारम्भ करना जरूरी है।
- धर्म मोक्ष का मूल है तो मोक्ष धर्म का सर्वश्रेष्ठ फल।
- मन, वचन और काया के योगों को तप में तपाकर आत्मा को शुद्ध वनाइये ।

कुंथु जिन मनड़ो किम हि न वाजै

कुंथुनाथ भगवान् के चरणो मे मन की फरियाद लेकर कवि उपस्थित हो गया है। मन की शिकायत परमात्मा के सामने रखी जा सकती है, परन्तु क्या इस भावना से कि वे इस मन को पकड कर ठीक कर देगे या कि उसे वश मे कर लेंगे अथवा उनके पास अर्ज करने से मन की गति एकाग्र बन जायगी? इस प्रकार की भावना से यदि प्रभु के चरणों में निवेदन भी किया गया तो वह केवल निवेदन के रूप मे ही रहेगा। वचनो का सदुपयोग हो जाने से वाचिक पुण्य का बन्ध हो सकता है, परन्तु मन को एकाग्र बनाने के जिस उद्देश्य को लेकर साधक चलना चाहता है, उस उद्देश्य की पूर्ति इस निवेदन से नहीं हो सकगी। कारण स्पष्ट है कि इस भावना मे भ्रान्ति है। ऐसी भावना करने वाले के सम्बन्ध मे यह कहा जा सकता है कि वह सही तरीके से परमात्मा के स्वरूप को नहीं पहिचानता, अपने जीवन की दिशा का ज्ञान नहीं रखता तथा साधना की स्वस्थ रीति को नहीं समझता है। वह केवल एक [illegible] के रूप मे परमात्मा के चरणो मे निवेदन कर रहा है।

दिये। अब उनका पालन किया जाता है या नहीं किया जाता है, इसका दायित्व मेरे ऊपर नहीं है, क्योकि मैने तो ससार के साथ सारे सम्बन्धो का विच्छेद कर लिया है। यही कारण है कि प्रार्थना के द्वारा हमे प्रभु के निर्लिप्त स्वरूप से प्रेरणा लनी है किन्तु यह नहीं सोचना है कि उस से प्रभु हमारे विकास का कार्य स्वय कर लगे।

स्वय अपनी आत्मा को संवारना होगा

अपनी आत्मा की मलिनता धोने तथा उसको सवारने का काम तो स्वय को करना होगा। सिद्धात्मा ने तो अपनी सशरीरी अवस्था मे आत्मोन्नति के जो सकेत दे दिये, वे शास्त्रो मे सुरक्षित है। उनका जो व्यक्ति पालन करता है तथा परमात्म-स्वरूप को आदर्श मानता हुआ चलता है, वही अपनी आत्मा का चरम विकास भी साध सकता है। यदि कोई इन सकेतो को नहीं माने और अपने मन की उद्दाम इच्छा के अनुसार चले तो वह ससार रूपी अटवी मे भटक जायगा। तब वह विकाररूपी भयानक जन्तुओ का शिकार बनता हुआ अपार कष्ट का अनुभव करेगा। परमात्मा ने मनुष्य-शरीर मे रहते हुए जो विकास का मार्ग बताया है, उसके अनुरूप यदि मानव चलने की तैयारी करले और अपने कार्य कलापो को उस रूप मे ढाल ले तो वह अपने मन की गति को भी एकाग्र बना सकता है और अपनी आत्मा के मूल रूप को भी पवित्र बना कर सवार सकता है।

आत्म-साधना के पथ पर अपने चरण बढाने के बाद यदि कोई उपरोक्त प्रार्थना के कवि की तरह प्रभू के चरणो मे मन की शिकायत को रखता है तो वह एक दूसरी बात हो जाती है। तब परमात्मा से की जाने वाली शिकायत अपनी ही अन्तरात्मा मे गहरी उतरेगी, क्योंकि वह शिकायत परमात्मा के प्रतीक रूप मे स्वय से ही की जाएगी। तब एक जिज्ञासा की भावना से परमात्मा के स्वरूप का अवलोकन होगा, उसकी तुलना मे वह अपने आत्मस्वरूप को देखेगा तथा दोनो स्वरूपों मे समकक्षता लाने के लिए वह मनोनिग्रह की सफलता के लिये और अधिक तल्लीनता से अपनी साधना मे जुट जायगा। परमात्मा से मन की शिकायत एक प्रकार से स्वय की ही आत्मजागृति के लिये होती है।

आत्मजागृति के लिये भी सजातीय तत्त्व से की जाने वाली तुलना बड़े महत्त्व की होती है। ससारी आत्मा का सजातीय तत्त्व होती है सिद्धात्मा क्योकि मूल रूप मे दोनो प्रकार की आत्माओ का स्वरूप समान होता है। इस कारण सिद्धात्मा की गुजार यदि ससारी आत्मा के ज्ञान-कर्णों मे पहुचे और उसकी स्वरूप-तुलना की दृष्टि बने तो अनादिकाल से प्रगाढ निद्रा मे सोई हुई आत्मा मे भी जागृति के लक्षण दिखाई देने लगते है। इसलिये अपने ही भीतर के परमात्मा को जगाने के लिये उस परमात्मा की प्रार्थना की जाती है तथा उस परमात्मा को की जाने वाली मन की शिकायत भी अपने ही भीतर के परमात्मा से करनी है ताकि यह अन्तरात्मा अपना होश सम्हाल कर मन पर अपना काबू कायम करे। इस विवेक के साथ जो परमात्मा की प्रार्थना करता है, वह सही ज्ञान के साथ सही विश्वास रखेगा और अपनी आत्मा को

सद्गुणों से सँवारने का प्रयास करेगा।

जीवन की अधार्मिकता और गुणग्राहकता

जिस प्रकार प्यास जितनी तीव्र होती है, जल उतना ही अधिक शान्तिदायक होता है, उसी प्रकार जीवन की अधार्मिकता के घनत्व के अनुसार गुणग्राहकता की वृत्ति भी गहरी होनी चाहिये। अधार्मिकता का अन्त गुणग्राहकता से ही होता है। जब विकासोन्मुख जीवन में अधार्मिकता के प्रति अरुचि होकर गुणों को ग्रहण करने की वृत्ति जागती है, तब समझ में आता है कि वास्तविक ज्ञान एवं श्रद्धा के माध्यम से ग्रहण किये जाने वाले गुण अत्यन्त प्रियकारी हैं और यह भी समझ में आता है कि जैसे ये गुण स्वयं को प्रियकारी एवं हितावह हैं, वैसे ही वे गुण सबके लिये प्रियकारी तथा हितावह होते हैं। यह समझ सब ओर समान हो जाती है जैसे कि जल के गुण के बारे में समझ सबके मन में समान होती है। एक व्यक्ति महसूस करता है कि मैं पानी पीता हूँ तो प्यास बुझती है तो वह यह भी समझता है कि मेरे परिवार वाला या अन्य कोई भी व्यक्ति जो पानी पीता है, वह भी अपनी प्यास को बुझा लेता है। प्यास बुझने से जैसे स्वयं को शान्ति मिलती है, वैसे ही प्यास बुझने से सबको समान रूप से शान्ति मिलती है। यही स्थिति गुणग्राहकता की होती है कि जो भी सद्गुणों को ग्रहण करता है, उसे शान्तिलाभ होता है। सद्गुणों का ग्रहण जैसे एक के लिये शान्तिप्रद होता है वैसे ही यह सब के लिये भी शान्तिप्रद होता है।

इस दृष्टिकोण से अपने और सबके जीवन की अधार्मिकता को हटाने की प्रेरणा जागनी चाहिये। जहाँ तक शरीर-निर्वाह का प्रश्न है, बाह्य आवश्यकताएं स्वयं के लिये भी होती हैं तो स्वयं के परिवार अथवा व्यापक दृष्टि से समाज, राष्ट्र आदि के लिये भी होती हैं। जब इन बाह्य आवश्यकताओं की भी पूर्ति नहीं होती है तो सभी ओर अशान्ति का अनुभव होता है। यह अशान्ति एक या दूसरे रूप में अधार्मिकता को बढ़ाती है। इस कारण इस सम्बन्ध में व्यक्ति की जिम्मेदारियाँ अपने प्रति एवं अपने परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के प्रति भी होती हैं। उन जिम्मेदारियों को भी यथास्थान समझना और निभाना पड़ता है। शरीर-रक्षण का पहला प्रश्न रोटी-रोजी जुटाना होता है और इस क्षेत्र में भी कर्त्तव्य भावना की अपेक्षा रहती है। यदि इस क्षेत्र में कर्त्तव्य, न्याय एवं नीति का पूरा विचार रखा जाय तो यही क्षेत्र अपने [illegible] भावना का साधन भी बन सकता है।

को ग्रहण करते हुए आत्मा के उज्ज्वल स्वरूप को तेजी से दैदीप्यमान बना सकेगे।

कर्त्तव्य के दोनों पक्षो मे समन्वय

सासारिक जीवन मे रहते हुए कर्त्तव्य के एक ही पक्ष को नहीं पकड़ना है कि बाह्य आवश्यकताओ की पूर्ति करने से ही कर्त्तव्य की इतिश्री हो जायगी। इसी कर्त्तव्य का दूसरा पक्ष यह भी है कि आप अपने प्रति एव अपने परिवार समाज, राष्ट्र आदि के प्रति आन्तरिक जागरण के कर्त्तव्य को भी समझे। आपने रोटी-रोजी का अच्छा प्रबन्ध कर दिया व परिवार के सदस्यो को जीवन निर्वाह के साधन सुलभ कर दिये और यदि सोच लिया कि मानव जीवन का कर्त्तव्य आपने पूरा कर लिया है तो यह कर्त्तव्य पूरा नहीं कहलाएगा। यह तो कर्त्तव्य का अधूरा और एकागी पालन होगा, जब कि आवश्यक यह है कि कर्त्तव्य के दोनो पक्षो मे स्वस्थ समन्वय कायम करके उसका पूर्णत पालन किया जाय।

एकागी कर्त्तव्य के पालन का भार बहुत हल्का और मूल्याकन बहुत कम माना जाता है। यदि इतने मात्र से कर्त्तव्य की पूर्ति हो जाती हो तो यह कर्त्तव्य तो पशु-पक्षी भी पूरा करते हैं। वे भी अपनी सन्तान के लिये योग्यतानुसार घोसला बना देते है, अण्डों की परवरिश करते है और चुग्गा वगैरा लाकर खिलाते है। पक्षी अपने बचो मे उड़ने की क्षमता भी पैदा करते हैं। इतना कार्य करके पक्षी विराम ले लेते है। यदि मनुष्य भी इसी प्रकार अपनी सन्तान को अर्जन आदि मे सक्षम बनाकर विराम ले ले और अपने जीवन को धार्मिकता के प्रसार मे लगादे तब भी उस जीवन का मूल्याकन अधिक हो सकता है। यदि इतना भी नहीं कर सके तो वह अपनी सन्तान को एक ओर अर्जन के योग्य बनाता है तो साथ ही साथ उसे अपनी सन्तान और अपने परिवार मे धार्मिकता के सशक्त सस्कार भी ढालने चाहिये। वह परिवार आदि के निर्वाह के लिये बाह्य पदार्थो की जैसी आवश्यकता समझता है, उससे भी अधिक आवश्यकता उसको उनके लिये धार्मिकता के सस्कारो की समझनी चाहिये। जीवन मे शरीर को बाहरी आवश्यकताओ की पूर्ति से सम्हालना है तो अन्त करण को सद्‌गुणो से सजाना है, यही कर्त्तव्यपूर्ति का समग्र रूप होगा।

एक विकासोन्मुख व्यक्ति को सोचना चाहिये कि मैं जैसे अन्न, वस्त्र आदि से परिवार को सुखी वनाता हू तो वह उनका स्थायी सुख नहीं है। परन्तु यदि उसके साथ ही मै सही ज्ञान, सही विश्वास तथा सही आचरण की शिक्षा देकर उन्हे आन्तरिक गुणो से सजाता हू, तभी मेरे कर्त्तव्य का पूर्णत पालन होगा। अधार्मिकता के पतन से जीवन को निकाल कर उसे धार्मिकता की ओर वढाने मे यही चिन्तन फलदायक बन सकता है। वह चाहे और कोशिश करे कि मेरे परिवार का प्रत्येक सदस्य ज्ञानी, गुणवान और आज्ञाकारी बने और इस कोशिश मे अगर आर्थिक पूर्ति मे कमी भी रह जाती है तब भी वहा किसी अभाव का अनुभव नहीं होगा। यदि जीवन को सद्‌गुणो से सजा दिया तो धार्मिकता के क्षेत्र मे ऊचे से ऊचा विकास करने की प्रत्येक सदस्य मे क्षमता पैदा हो जाएगी।

धार्मिकता नैतिकता मे प्रारम्भ होती है

जीवन मे धार्मिकता का प्रारम्भ नैतिकता के आचरण स होता है। जहा जितनी अनैतिकता है, समझिये कि वहा उतनी ही अधार्मिकता है। इस कारण किसी भी स्तर पर जब नैतिकता का धरातल पुष्ट बना दिया जाता है तो वहा सही ज्ञान, विश्वास और आचरण सही तरीके स पनप सकते हैं। याद रखिये, यदि आपने अपनी नैतिकता के धरातल को पुष्ट बना दिया तो आपके लिये भौतिक पदार्थों का अभाव भी नहीं रहेगा। यह दूसरी बात है कि आत्म-जागृति की अवस्था म भौतिक पदार्थों की प्राप्ति के प्रति भी आपका निरपेक्ष भाव बन जायगा। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने जीवन को नैतिक बनाकर चले तो वह अपने ज्ञान, विश्वास एव आचरण की त्रिधारा को पवित्रता स वा गतिशील रख सकता है।

यह समझने की बात है कि व्यक्ति की प्रामाणिकता और चरित्रशीलता उसके लिये उसकी आर्थिक सम्पन्नता से भी बढकर शक्ति हैं। इस प्रकार की नैतिकता की शक्ति जिस परिवार के मुखिया मे जाग जाती है तो वह अपने कर्त्तव्य का सम्पूर्णत पालन करने मे सक्षम बन जाता है। परन्तु इस कर्त्तव्य भावना की जहा शून्यता है तो समझना चाहिये कि वहा न तो सम्यक् ज्ञान और श्रद्धा का अस्तित्व है तथा न ही वहा परमात्मा का नाम लेने की सच्ची वृत्ति है। नैतिकताहीन जीवन से न तो वह अपने आपको ही पहिचानता है और न ही परमात्मा की ज्ञान-शक्ति को समझ पाता है।

धार्मिकता नैतिकता से प्रारम्भ होती है तथा इस नैतिकता के धरातल पर यदि मनुष्य यह सकल्प कर ले कि उसे स्वय को अपने परिवार,पड़ोसी को सर्वागत सुखी बनाना है और कर्त्तव्य के दोनो पक्षो का उज्ज्वल करना है तो वह सद्गुणो का व्यापक प्रसार करने का पूर्ण प्रयत्न करेगा। इस प्रयत्न से सब ओर धार्मिकता के संस्कारों का सचार होगा एव जीवन के समग्र विकास का मार्ग निष्कटक बन सकेगा। चारो ओर सद्गुणों के प्रसार स [illegible] की शक्ति मे वृद्धि होगी और एक नये वातावरण की सृष्टि होगी, जिसमें सामाजिक [illegible] की रूपरेखा स्पष्ट बन सकेगी। इस कार्य मे व्यक्ति के कर्म-समूह का भी क्षयोपशम [illegible] कर्म कई जन्मो मे बधता रहता है और आत्मा को सुअवसरों एव शुभ [illegible] करता रहता है किन्तु सद्गुणो का अपने अनुपालन म प्रसार करने [illegible] कर्म का भी नाश होने लगता है और उसे ज्ञान एव आचरण के [illegible] प्रारम्भ होती है।

धार्मिकता और आजीविका का सम्बन्ध

सद्गुण रूप धार्मिकता का जब विस्तार होता है तो वह वटवृक्ष के विस्तार के समान होता है। वट वृक्ष जितना बाहर से फैला हुआ दीखता है, उतनी उसकी जड़ें गहराई में भी पहुचती है। उसकी शाखाए जितनी बढती है, उतने ही उनसे ततु छूटकर नये तने बनाते रहते है। यही सद्गुणों के विस्तार की अवस्था होती है और इसी विस्तार के चहुमुखी बनने को धार्मिकता की सज्ञा दी जा सकती है। जब सद्गुण एक के जीवन मे और अनेको के जीवन मे बाहर और भीतर व्याप्त हो जाते है, तभी धार्मिकता के एक सामाजिक स्वरूप का निर्माण होता हे। यही स्वरूप सामूहिक आचरण मे सस्कारो के रूप मे उदित होता है। इस सामूहिक आचरण से व्यक्ति प्रभावित होता है तो इससे व्यक्तिगत एव सामाजिक कार्यकलापो का आधार नैतिकता पर आधारित होता है।

सासारिक जीवन मे इसी कारण आजीविका के सम्बन्ध को धार्मिकता से जोड़ने का निर्देश दिया गया है कि जीविकोपार्जन अन्याय और अनिति के माध्यम से न होकर न्याय ओर नीति से किया जाना चाहिये। शास्त्रकारो ने प्राचीन काल के व्यवसाय का वर्णन किया है कि वह वट वृक्ष के समान था। व्यवसायी पहले अपनी सम्पति का नियोजन व्यापक कल्याण के लिये करते थे तथा उनके उपार्जन मे धार्मिक वृत्ति का मुख्य आधार रहता था। धार्मिक वृत्ति का यही अर्थ हे कि उनकी उपार्जन की सम्पूर्ण प्रणाली नैतिकला पर टिकी रहती थी। उनके व्यवसाय एव व्यापार मे भी सद्गुणो का समावेश रहता था। धर्म उनके सारे जीवनचक्र का प्रवर्तक था। आजीविका से लेकर आत्मा -विकास तक धर्म की ही ज्योति पथ-प्रदर्शन करती थी।

जहा चार पुरुषार्थ वताये गये है-धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष तो वहा इनके क्रम को समझने की आवश्यकता हे। मोक्ष अन्तिम उपलब्धि के रूप मे है ही तो प्राथमिक क्रम धर्म को दिया गया हे। धर्म के बाद अर्थ ओर काम को रखने का अभिप्राय यह है कि अर्थ और काम की उपलब्धि मे भी धर्म निर्देशक तत्त्व के रूप मे रहना चाहिये। इसका यह भी अर्थ है कि धर्म ओर ससार अलग अलग नहीं है, वल्कि ससार जिन अर्थ और काम के पुरुषार्थो से चलता हे, उन पुरुषार्थो मे भी धर्म का पुरुषार्थ प्रधान होना चाहिये याने कि ससार का प्रत्येक क्रिया-कलाप धर्माधारित होना चाहिये। पहले जीवन को धर्म से याने कि कर्त्तव्य एव सद्गुणो से सजा लो, फिर अर्थ ओर काम की उपलब्धि के लिये प्रयास करो तो ऐसे प्रयास मे विकृति नहीं आएगी, कर्त्तव्य वुद्धि प्रमुख वनी रहेगी, जिससे मोक्ष की उपलब्धि दुर्लभ नहीं बनेगी।

धार्मिकता के संस्कार कब भरें

जीवन मे कर्त्तव्यमूलक धार्मिकता के सस्कार कव भरे जाने चाहिये? जैसे चारों पुरुषार्थो मे पहला पुरुषार्थ धर्म है उसी प्रकार जीवन का आरम्भ भी धर्म से किया जाना चाहिये। धार्मिक सस्कारो का श्रीगणेश बाल्यावस्था मे ही होना आवश्यक हें। ज्ञान, दर्शन एव आचरण

धर्म की सम्यक् शिक्षा जब बचपन से ही दी जाती है तो वे संस्कार जम कर सारे जीवनपर्यन्त अमिट बने रहते हैं। बाल्यकाल से ही जब धर्म को धारण कर लिया जाता है तो तरुणाई में अर्थ और काम की दौड़-दौड़ होने पर भी उसमें फिसल जाने या लिप्त हो जाने का अवसर नहीं रहता है और वृद्धावस्था में आत्मशुद्धि की ओर सचोट गति होने लगती है। उसका जीवन आदि से अन्त तक धर्म से ओत-प्रोत रहता है।

ऐसे व्यक्ति के जीवन में धार्मिकता का सबसे बड़ा मूल्यांकन हो जाता है। वह व्यापार करता है और अर्जन करता है तो धर्म की पुष्टि के लिये एवं काम के क्षेत्र में घूमता है तो उस समय भी धर्म की भावना को सर्वोपरि रखता है। इस तरह वह अर्थ और काम को ग्रहण करने में भी धर्म को पहले रखेगा तथा अपनी गति में सदा मोक्ष के समीप पहुंचता रहेगा। इस तरह धर्म मोक्ष का मूल है तो मोक्ष धर्म का सर्वश्रेष्ठ फल। धर्म गृहस्थ अवस्था से सिद्धावस्था को जोड़ता है। चारों पुरुषार्थों को जोड़कर चलने वाला गृहस्थ अपने जीवन में उदर-पोषण भी करता है, वस्त्र निवासादि की सुविधाएं भी जुटाता है और विवाह-शादी भी करता है, किन्तु वह प्रतिक्षण धर्म के संस्कारों से ओतप्रोत रहता है और संसार के सब कार्य करता हुआ भी धार्मिकता में केन्द्रस्थ रहता है। यह अवस्था तभी बनी रह सकती है, जब बचपन में ही धर्म के संस्कार सुदृढ़ता से भर गये हों।

के क्षेत्र मे इस तरह सक्रिय लोगो को परस्पर समान-धर्मी कह सकते हैं और वे एक दूसरे को स्वधर्मी मान सकते है। इस समानधर्मिता का आधार धार्मिकता में केन्द्रस्थ वृत्ति होता है।

यहा धर्म से भी अभिप्राय आत्मा के लिये उन्नायक सामान्य धर्म से है, किसी मतविशेष से नहीं। जैसे पानी जो पीये, उसी की प्यास बुझाता है, वैसे ही धर्म को जो भी धारण करे, उसकी आत्मा को वह उन्नायक बनाता है। पानी को पीने वाला और धर्म को धारण करने वाला किसी भी जाति, पार्टी या क्षेत्र का व्यक्ति क्यो न हो, वह उससे अवश्य शान्ति-लाभ करता है। सही ज्ञान, सही विश्वास और सही आचरण ये-सब शान्तिकारक तत्त्व हैं, जिन्हे मिलाकर ही धार्मिकता की पृष्ठभूमि बनती है। यह प्रत्येक मानव और प्राणीमात्र के लिये धार्मिकता का ऐसा अमृत-पेय है कि इसे जो भी पीएगा और धार्मिकता को अपने जीवन में सब प्रकार से केन्द्रस्थ बना लेगा, वह अपने जीवन को उन्नति के उचतम शिखर पर आरूढ कर सकेगा। यही नहीं, वह अपने जीवन की उन्नति के साथ परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के धरातल को भी अपने आदर्श जीवन से पवित्र बना सकेगा। धार्मिकता को जीवन का मर्म मानकर चलना चाहिये।

आज जीवन के मर्म से ही भूल

वर्तमान जीवन मे यदि चारो ओर दृष्टि फैलाई जाय तो प्रतीत होगा कि आज मानव प्राय इस जीवन के मर्म को ही भूला हुआ है। मैं स्पष्ट रूप से कहूगा कि धार्मिकता को भूल कर मनुष्य आज न जाने किन-किन रूपो मे चल रहे हैं तथा अपने जीवन को बेभान होकर अधार्मिकता एव विकार वृत्तियों से रग रहे हैं। यह जीवन के मर्म मे ही भूल है। भले ही लोग विद्वत्ता की दृष्टि से आज बड़ी-बड़ी डिग्रियो के धारक हो, ऊची नेतागिरी करते हों या समाज व राष्ट्र के सचालक पदो पर बैठे हुए हो, किन्तु उनके जीवन मे धार्मिकता एव नैतिकता के मूल धरातल का ही अभाव दिखाई देता है। फिर कैसे कल्पना की जाय कि ऐसे लोग भी अपने और दूसरो के जीवन का स्वस्थ निर्माण कर सकेंगे? जहा नैतिकता नहीं, वहा भ्रष्टता होती है और जहा धार्मिकता नहीं, वहा विकार-वृत्ति जीवन को घेरे रखती है। भ्रष्टाचार और विकार एक से दूसरे जीवन मे पतन के कीटाणु फैलाते ही रहते हैं और आज की अधार्मिकता का यही मूल कारण है।

आज का यह अधार्मिक जीवन इस कारण स्वय का ही पतन नहीं करता, बल्कि उस पतन को अपने से लेकर परिवार, समाज, राष्ट्र आदि के दूर तक के छोरों में भी फैलाता है। नैतिकता जीवन मे नहीं आती तो सद्गुणो का प्रवेश नहीं होता और धार्मिकता नहीं फैलती। अधार्मिक व्यक्ति अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिये अपने पड़ौसी को सताता है, अन्याय और अनीति से अपना काम चलाता है तथा काले कुकृत्यो से सब ओर कालापन बिखेरता है। आज मानव का जीवन इतना अनैतिक बन गया है कि मनुष्य को मनुष्य के नाम से पुकारना भी अपराध समझा जा सकता है। चारो ओर अनीति और अन्याय का एक तीव्र हाहाकार

गया हुआ है। जीवन में सन्ताप और शान्ति के दर्शन कठिनता से ही होते हैं।

मैं तो इस सारी स्थिति के बारे में यही कहूँगा कि आज जीवन के मर्म में ही भूल पडी हुई है तथा आज मनुष्य के आधार के नीचे से धर्म खिसक गया है। धर्म जिसे पहले रखा जाना चाहिये, वह वहा नहीं रहा है और पहले अर्थ और काम सिर पर चढ गये हैं। अर्थ और काम भी इस बुरी तरह सिर पर चढे हैं कि धर्म और मोक्ष दोनों अन्तर्धान से हो गये हैं। इस तरह समूचे जीवन का क्रम ही विपरीत बन गया है। सूक्ष्म साहजिक योग की दृष्टि से भारतीय योगियो का कथन है कि इस शरीर में बहत्तर हजार नाडिया हैं और उनका केन्द्रस्थल नाभि होती है। जब तक नाभि का केन्द्रस्थल सक्रिय रहता है, तभी तक शरीर का स्वस्थ्य बना रहता है। जब नाभि जरा-सी भी खिसक जाती है तो आप जानते हैं कि कितनी तीव्र पीड़ा पैदा हो जाती है। नाभि का स्थान छूट जाने से तुरन्त अशान्ति हो जाती है। व्यक्ति चाहे अन्य क्षेत्रो मे कितना ही बढा-चढा हुआ हो, किन्तु जैसे नाभि के खिसक जाने से उसको पीड़ा होती है वैसे ही धर्म के जीवन मे से खिसक जाने पर आत्मा मलिन हुए बिना नहीं रहती है। धर्म जीवन मे नाभि के समान ही केन्द्रस्थल बनना चाहिये कि वह सारी गतिविधियो को सचालित करे, अन्यथा जीवन के मर्म मे भूल बनी रहेगी और उसे अधार्मिक बनाती रहेगी।

अधार्मिकता के कारण-विजातीय तत्त्व

धर्म मे तो कोई स्थिति है ही नहीं, किन्तु अधर्म मे भी उनकी अधमाधम स्थिति होती हे। आज किस वस्तु मे मिलावट नहीं की जाती हे-खाद्य पदार्थो मे मिलावट तो ओपधियो तक मे मिलावट ! और इसका कितना कुप्रभाव जन-स्वास्थ्य पर पड़ रहा हे व कितनी अज्ञात हत्याए रात-दिन हो रही है-यह विचारणीय स्थिति हे।

मिलावट की इस घोर अधार्मिकता का कारण हे अर्थोपार्जन के लिये पागलपन। समझिये कि यह धन सदा जिन्दगी मे काम आने वाला नहीं हे। आज नीति-अनीति से पेसा इकट्ठा कर लिया तो कल सरकार या जनता की तरफ से उसकी क्या दशा वनेगी-इसकी पता नहीं हे। पैसे के ऐसे पागलपन मे आप बुजुर्ग तो बहे सो बहे, किन्तु नई पीढ़ी को भी क्यो विगाड़ रहे है? बच्चे जब देखते हैं कि मिलावट जैसा कुकर्म करके पिताजी पेसा कमा रहे हें तो सोचिये कि उन पर कैसे सस्कार पड़ेगे? आज पैसा कमाने को ही देखा जा रहा है-कमाने की रीति-कुरीति की ओर ध्यान नहीं है-यह दयनीय मनोदशा हे। व्यापार ओर व्यवसाय की ऐसी हालत हो रही है जिसमे प्रत्येक दूसरे को धोखा देकर ठग लेने मे अपनी सिद्धहस्तता समझता है। नीति और श्रम से अर्थोपाजन की वृत्ति जेसे लुप्त होती जा रही हे। इसी विकृत मनोदशा का परिणाम है कि मिलावट जैसा कुकृत्य चारो ओर फेल गया है। लोग इस कुकृत्य को धड़ल्ले से करते है, और शर्म भी नहीं खाते। जिस समाज या राष्ट्र मे ऐसी घोर अधार्मिकता एव अनैतिकता बिना हिचकिचाहट के चल रही हो, वहा कैसे कल्पना की जाय कि नेतिकता और धार्मिकता का सरलता से प्रसार हो सकेगा। इसके लिये प्रबुद्ध वर्ग को कठिन कार्य करना होगा एव जीवन को धर्म से सजाना पड़ेगा।

जीवन को धर्म से सजाइये

अनैतिकता के इस मगरमच्छी न्याय मे दुर्बल और दीन पिसता है तथा अधार्मिकता का घोर अन्धकार फैलता है। इसमे धर्म का प्रकाश फैलाना होगा और उससे इस जीवन को सजाना होगा। जिसमे धर्म की कला है, वही अर्थ और काम पर नियत्रण रख सकता है तथा वही मोक्ष के मार्ग पर अग्रसर बन सकता है। धर्म को जीवन मे रमाने के लिये मन को पवित्र बनाना होगा जिसकी पवित्रता का अचूक साधन है-तप। तप के बाह्य एव आभ्यन्तर रूपो की आराधना करते हुए मन को निश्चल एव शुद्ध बनाया जा सकता है।

जीवन को धर्म से सजाइये तथा मन, वचन एव काया के योगो को तप के माध्यम से तपाकर आत्मा को शुद्ध बनाइये। ऐसी शुद्धात्मा के धरातल पर ही सम्यक्ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की सक्रिय स्थापना हो सकेगी तथा मोक्ष का मार्ग उसके लिये प्रशस्त बन सकेगा।

गगाशहर-भीनासर

दि० ९-१२-७३

2

सर्व - त्याग की साधना में

- अहिंसा, संयम व तप रूप जो धर्म है, वही उत्कृष्ट धर्म है। इस उत्कृष्ट आराधना के चरम विकास ही मोक्ष है।
- स्वाद को जीतना ही विकारों पर विजय प्राप्त करना है।
- साधु के ठहरने के स्थान पर बत्ती या रोशनी नहीं जलनी चाहिये। यदि ऐसा समारम्भ उस मकान में होता है तो साधु तनिक भी वहां नहीं ठहरे, फिर जितने दिन वह ठहरता है, उतने दिन का दीक्षाछेद होता है।
- सब कल्याण की व्यापक भावना से स्व-पर के जीवन का अमिट कल्याण करना।
- साधु मर्यादाओं को सुरक्षित रखने में सहयोग देता है, सहायता करता है, वह एक प्रकार से आगम परम्परा को सुरक्षित रखने का सत्प्रयास करते हुए शुभ कर्मों का बन्धन करता है।
- साधु सर्व त्याग की उच्च भावना से पंच महाव्रत का पालन करता है। जिसकी साधना से परम लक्ष्य प्राप्त किया जा सकता है।

से आवश्यक है। आवश्यक वस्तुओं को ग्रहण करने का अधिकार एक सद्गृहस्थ को होता है, किन्तु उनका भी परित्याग महान् आत्मिक-जागृति के बिना सम्भव नहीं होता है।

जो इन दोनो बहिनो की बड़ी दीक्षा का प्रसग आपके समक्ष है तो ये दोनो अपने सम्पन्न घरो को छोड़ कर दीक्षित हुई है। इनमे से एक बडी सादड़ी सघ के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीलाल जी पामेचा की पुत्री है। पामेचा जी अपने नगर के नामी धनीमानी सज्जन कहलाते है। उनकी पुत्री की दीक्षा आर्थिक सम्पन्नता के बावजूद उसकी अटूट धार्मिक निष्ठा का प्रमाण है। वैसे ही दूसरी बहिन का ब्यावर निवासी कोठारी परिवार भी सम्पन्न है, फिर भी अपनी तीक्ष्ण बुद्धि एव आध्यात्मिक साधना की उग्र अभिलाषा से इसने दीक्षा ग्रहण की। इन बहिनो का इस मार्ग पर जो प्रवेश हुआ है, वह ममता के बधनो को तोड़ देने की दृष्टि से एक आदर्श रूप है तथा दूसरो के लिये प्रेरणा का कारण बन सकता है।

ससार मे आप देखते है कि सत्ता और सम्पत्ति के लिये भारी झगड़े होते हैं। चारो ओर से सम्पत्ति को बटोरने की लालसा लगी रहती है। ससुराल से किसी कारण सम्पत्ति मिल जाती हे तब भी घर की सम्पत्ति पर भी हक जमाया जाता है और नहीं मिले तो कानूनी कार्यवाही भी की जाती है। वहा यह दीक्षित बहिने अपने अधिकार की सम्पत्ति का भी त्याग करके निकली है-यह कितनी प्रशसनीय वस्तु स्थिति है।

वीतराग प्रभु का निराला मार्ग ?

वीतराग प्रभु का मार्ग निराला है, जिस पर चलने के लिये ममता के सभी बन्धन तोड़ देने होते हैं और सम्पूर्णत समता धारण कर लेनी पड़ती है। यह मार्ग साधु जीवन का है जिसके ग्रहण के साथ ही राग-भाव छूटता है और निर्ग्रन्थ वृत्ति आरम्भ होती है। इस जीवन में सर्वथा परिग्रह और परिग्रह की मूर्छा भी त्याग देनी होती है। जो भी वस्तु इस अवस्था मे रखी जाती हे, वह सीमित एव मर्यादित मात्रा में होती है। वस्त्र की दृष्टि से कुल एक हाथ के पन्ने का ७२ हाथ लम्बा वस्त्र ही एक साधु को रख सकने का विधान है। साध्वी ९६ हाथ लम्बा वस्त्र रख सकती है। फिर कितना ही तेज शीत हो या वर्षाकाल इतने ही वस्त्र मे काम चलाना पड़ता हे। यह कितनी कठोरतम तपस्या है। इस प्रकार की मर्यादा का पग-पग पर पालन करना पडता हे, तव साधु जीवन का निर्वाह होता है।

इन वहिनो ने सात दिन पहले सेठिया भवन, बीकानेर मे अपने परिवार की अनुमति एव सघ की सहमति से भागवती दीक्षा अगीकार की थी एव वीतराग प्रभु के निराले मार्ग पर अपने चरण रख थे, वे चरण आज वड़ी दीक्षा के रूप मे परिपुष्ट हो रहे है। छोटे परिवार को छोड़कर ये अब विश्वपरिवार की सदस्याए वन गई हें। इस विशाल सघ मे प्रवेश लेकर ये विषम भाव से हटकर समभाव की आराधिकाए हो गई हें। ये सबके कल्याण हेतु आध्यात्मिक साधना मे तत्पर बन गई हें। ससार के छोटे वड़े समस्त जीवों के प्रति सरक्षण की भावना रखते हुए अपने जीवन को सकोच करके चलने का प्रण इन्होने लिया है ओर सारे सावद्य पापकारी

आराधना के चरम विकास का नाम ही मोक्ष है। उत्कृष्ट आराधना का चरम विकास तो श्रेष्ठ है ही किन्तु इसका क्रम भी साधक को न सिर्फ मानव समुदाय मे वल्कि देव समुदाय मे पूजनीय एव वन्दनीय बनाता है। देव यद्यपि मानव जीवन की अपेक्षा अधिक सम्पन्न जीवन वाले होते है फिर भी धर्माराधन मे वे अक्षम होते है। अत सक्षम धर्माराधक मानव के चरणो मे वे नत होते है। यह इस लोक सम्बन्धी उपलब्धि का उल्लेख है, किन्तु इस गाथा मे धर्म की उत्कृष्ट आराधना के प्रत्यक्ष एव परोक्ष दोनो फलो का सकेत दे दिया गया है।

प्रथम अध्ययन मे साधक को कुछ सकेत दिये गये है। वे प्रमुख रूप से इस प्रकार हैं- हे साधक, तू आज से जगत् के समस्त प्राणियो को अपनी आत्मा के तुल्य समझकर चलना, छोटे बड़े सभी प्राणियो का उपमर्दन मत करना-क्लेश मत पहुचाना और किसी कारण ऐसा हो जाय तो प्रायश्चित्त करना। विश्व के समस्त प्राणियो को एक परिवार के सदस्य समझना तथा उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार करना। मनुष्यो एव बड़े प्राणियो का तो सरक्षण करना ही, किन्तु छोटे-छोटे प्राणियो की घात से भी बचना तथा उनकी भी रक्षा करना। यदि ऐसा नहीं हुआ तो तुम्हारी साधुता की वृत्ति नहीं रहेगी। सक्षेप मे अहिसा का ऐसा विराट् रूप भगवान् महावीर ने दिखाया है।

अहिसा के इस स्वरूप के प्रति कोई शका करे कि साधु फिर भोजन किस प्रकार ग्रहण करेगा? आज के आज साधु बने और आज ही जीवन पर्यन्त सयम मे आरूढ होकर त्याग कर ले- यह साधु के लिये शक्य कैसे हो सकता है? इससे तो यही ठीक है कि जब तक शरीर मे क्षमता है, तब तक ज्ञान दर्शन व चारित्र की आराधना करनी चाहिये। शरीर अक्षम हो जाय या सक्षम हो, तब भी सथारा कर लेना एक प्रकार से आत्मघात है-ऐसी ऐसी शकाए कई लोग रखते हैं।

भगवान् महावीर ने आत्मघात के लिये कभी निर्देश नहीं दिया। जब तक साधक की आत्मा ठीक तरह से जागृत है और चिकित्सको का मत है कि अब शरीर ज्यादा वक्त तक नहीं टिकेगा तो सन्ताप-विलाप करने की बजाय सथारे के रूप मे ममता छोड़कर स्वय शरीर को छोड़ दे तो वह भी त्याग का एक आदर्श रूप ही होगा। साधु के भोजन का जहा तक प्रश्न है, साधु को मधुकरी करने का निर्देश है। जैसे भवरा एक-एक फूल पर बैठता है और बिना किसी को तनिक भी कष्ट पहुचाए, वह सूक्ष्म पराग जिस प्रकार एक-एक फूल से ग्रहण करता है, उसी प्रकार साधु एक-एक घर से इतनी सूक्ष्म भिक्षा ग्रहण करे, जो किसी भी रूप मे दाता को भारप्रद न हो तथा दोषयुक्त भिक्षा भी वह न लेवे। साधु इस प्रकार न स्वय भोजन बनाता है, न दूसरो से अपने लिये भोजन बनवाता है तथा न ही अपने लिये भोजन बनाने वालो को अच्छा समझता है। गृहस्थ अपने नित्य-क्रम मे जैसा भी भोजन बनाते हैं साधु तो अतिथि के रूप मे वहा पहुचता है तथा मधुकर की तरह अत्यल्प ग्रहण करता है। साधु की भिक्षा को इसीलिये गोचरी भी कहते है कि जैसे गाय ऊपर-ऊपर से थोड़ा-थोड़ा घास चरती है, वैसे ही ग्रहस्थ को कतई कष्ट अनुभव न हो इस प्रकार मामूली

भोजन भी साधु को नहीं लेना चाहिये। वर्षा की झड़ी लग रही है और भिक्षा कोई धर्मस्थान पर ही ले आवे तो साधु उसे ग्रहण नहीं करे। वर्षा मे साधु भिक्षा के लिये बाहर नहीं जा सकता है, हा प्राकृतिक शका दूर करने के लिये अवश्य जा सकता है। इसका कारण यह है कि जीवरक्षा मे यदि भूखा भी रहना पड़े तो उससे सयम मे कोई बाधा नहीं आएगी।

भोजन आदि की कठिन मर्यादाएं क्यो?

साधु के लिये भोजन की कठिन मर्यादाए उसके सयम सरक्षण के लिये अनुकूल हैं क्योकि साधु खाने के लिये नहीं जीता, बल्कि जीने के लिये खाता है, वह भी सीमित मात्रा मे और दोषरहित प्राप्त भिक्षा से ही। जो स्वाद जीत लेता है, वह तज्ञन्य कई विकारों को भी जीत लेता है। स्वाद छोड़ा, लोलुपता छोड़ दी तो फिर भोजन शरीर-रक्षा का क्षीण साधन मात्र ही रह जायगा।

इसी दृष्टि से विधान है कि साधु दया के निमित्त से भी श्रावको द्वारा सामने लाया हुआ आहार ग्रहण नहीं करे। यह तो ठीक, मगर साधु गृहस्थ के द्वार पर भी पहुच गया और गृहस्थ रसोई घर से भोजन लाकर वहा पर भी देवे तब भी वह सामने लाया हुआ भोजन माना जायगा । ऐसा नहीं ग्रहण करने का एक सूक्ष्म दृष्टिकोण है। जहा भोजन स्वाभाविक रूप से रहता हे और साधु वहीं पहुचकर भिक्षा ग्रहण करता है तो सब कुछ उसकी दृष्टि मे रहता है कि कहीं सचित्त का सघट्टा तो नहीं है अथवा अन्य कोई दोष तो नहीं लग रहा है, परन्तु आहार सामने लाने पर यह सब नहीं देखा जा सकेगा तो साधु का छ काया के प्रतिपालक का धर्म दोषयुक्त बन जायगा।

इसी तरह अनाचार की दृष्टि से शास्त्रकारो ने बताया है कि साधु को रात्रि-भोजन नहीं करना चाहिये। साथ ही स्नान आदि का प्रसग भी साधु के लिये नहीं होना चाहिये। साधुपूर्ण रूप से मैथुन का त्यागी होता है- ब्रह्मचारी होता है तो उसका प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से किसी भी श्रृगार से सम्वन्ध नहीं होना चाहिये, जबकि स्नान प्रथम श्रृगार के रूप मे माना गया है। साधु के लिये सुगधित पदार्थो का प्रयोग तथा पुष्पमाला आदि धारण करना भी त्याज्य है। पखे आदि से हवा भी साधु को नहीं लेनी चाहिये क्योकि उससे छ काया के जीवो की हिसा होती हे। कोई पखा चलाता हो तो वहा भी साधु को नहीं बैठना चाहिये। साधु मर्दन भी नहीं करे और गजपिड भी ग्रहण नहीं करे। दातो या शरीर के किसी अग का साधु किसी भी प्रकार से कोई श्रृगार नहीं करे। दर्पण मे भी अपनी आकृति वह नहीं देखे और यदि देखता है तो अनाचार का प्रसग आता हे।

साधु के अतिचार-अनाचार

साधु का सप्त व्यसन मे सर्वथा विलग रहना चाहिये। वह किसी भी नाम से किसी भी प्रकार का जुआ नहीं खले। इसमे अनाचार लगता हे। साधु को छत्र या छतरी भी धारण नहीं करनी चाहिये। साधु को चिकित्सक का काम भी नहीं करना चाहिये, न ही भविष्यवक्ता बनना

पालन-पुष्टता के पश्चात् ही तपाराधन की क्रिया उग्रतापूर्वक की जा सकेगी।

मूलत अहिसा परमो धर्म जो कहा गया हे, साधु को इसका ज्वलन्त प्रतीक वनना चाहिये। अहिसा धर्म का स्थूल पालन श्रावक करता हे तो उसका सूक्ष्म पालन साधु को करना होता है। एक प्रकार से साधु का जीवन सम्पूर्ण रूप से अहिसामय होता हे।

कल्याण की व्यापक भावना

आगे की गाथाओ के अनुसार जब साधु अपने जीवन को ढालता हे तो उसका दृष्टिकोण अत्यधिक विस्तृत बनता जाता है-सर्वकल्याण की एक व्यापक भावना उसके जीवन मे समा जाती है। अपने शरीर के प्रति भी जब उसका मोह नहीं रहता तो मोह व ममता के उसके सारे घेरे टूटते जाते है और वह अपने निजत्व को सम्पूर्ण विश्व मे समाहित कर लेता हे। उसका साधु-स्वरूप भावनात्मक सकुचितता से छूटकर विश्व की परिधि तक उदारतापूर्वक प्रसारित हो जाता है और इसी कारण उसकी स्व-पर की कल्याण-कामना इतना ही व्यापक रूप धारण कर लेती है।

एक सचा साधु स्वय को कल्याण के मार्ग पर अग्रसर बनाता हे तो अपने साथ समस्त विश्व को भी अपने अनुभूत उपदेशो के द्वारा कल्याण के मार्ग पर चलाना चाहता है एव इस परम कल्याण के मार्ग के लक्ष्य-मोक्ष तक पहुच सकता हे। साधु धर्म की जिन मर्यादाओं का मैने यहा उल्लेख किया है, यदि साधु अपनी सुदृढ भावना एव कार्य दोनो प्रकार से उनको अपने जीवन मे उतारे तथा उनका ईमानदारी से पालन करे ता सर्व-कल्याण की ऐसी व्यापक भावना का निर्माण सरलतापूर्वक किया जा सकता है तथा ऐसी भावना के सक्रिय होने का स्पष्ट अर्थ ही यह है कि साधु का जीवन समता के उज्ज्वल राग से रग गया। समता जिसके जीवन के प्रत्येक क्षण मे अन्तरग रूप से समाविष्ट हो जाती है, वहीं सचा साधु बनता है। माथा मुडवा देने मात्र से किसी को मुनि कह दे- ऐसी स्थिति नहीं है, वास्तव मे इन पवित्र मर्यादाओ एव शास्त्रो के निर्देशो के अनुसार जीवन को ढालने को आवश्यकता होती है ।

साधु-मर्यादाओ का संरक्षण

इन नवदीक्षित दोनो सतियो को सक्षिप्त रूप मे मैने सार्वजनिक रूप से साधु-जीवन की मर्यादाओ की जानकारी दी है और विस्तृत रूप से या आकस्मिक रूप से इसकी जानकारी वे महासतियो से करती है। सार रूप मे वे इतना ध्यान मे ले ले कि उन्हे पग-पग पर साधु-धर्म की मर्यादाओ की रक्षा करनी है तथा सर्वकल्याण की व्यापक भावना से अपने जीवन को ओतप्रोत बनाना है। उन्हें अपने जीवन को प्रशस्त मार्ग पर बढाते हुए स्व- पर के जीवन का अमित कल्याण करना है।

इस सम्बन्ध में गृहस्थ वर्ग का भी कर्त्तव्य है कि साधु मर्यादाओ के सरक्षण-कार्य मे वह भी अपना पूरा-पूरा योग दे। गृहस्थों को चाहिये कि जिस भावना से इन सन्त सतियो ने त्याग-मार्ग को अगीकार किया है, उनको वे छोटी-छोटी बातो से विचलित नहीं करे। जो भी

ऐसे महान् कार्य में बाधक बनता है, वह अन्तराय कर्म का बध करता है और जो इन साधुमर्यादाओं को सुरक्षित रखने मे सहयोग देता है तथा सहायक बनता है, वह एक प्रकार से तीर्थकरो की परम्परा को सुरक्षित रखने का सत्प्रयास करता है।

सर्वत्याग की साधना

साधु-धर्म सर्व-त्याग की साधना का पाथेय होता है। अपरूप जितना है, उसे छोड़ते जाओ और स्वरूप जितना है, उसे निखारते जाओ। यह साधुधर्म का मूल है। इसी मूल से विकास करती हुई आत्मा अरिहन्त एव सिद्धो का स्वरूप धारण करती हैं। इस एक पद के नमस्कार में पाचो पदों का नमस्कार समाया हुआ है, क्योंकि साधु के मूल से ही शेष चारों पदो पर विकास का क्रम चलता है।

साधु सर्वत्याग रूप जो पाचों महाव्रतो का पालन करता है, वह सभी प्रकार से निर्बाध बन सके, ऐसे वातावरण की रचना करना श्रावक-वर्ग का कर्त्तव्य है। इसीलिये श्रावक-श्राविकाओं को साधु के अम्मापियरा भी कहा गया है। अत गम्भीर चिन्तन-मनन के साथ जो साधु-धर्म ग्रहण करता है और जो साधु-धर्म को अनुरूप सहयोग देता है, वे दोनो अपने जीवन को सार्थक बनाते हैं।

गगाशहर-भीनासर

दि १५-११-७३

सर्व - त्याग की साधना में

3

समता की महती आवश्यकता

* विषमता की औषधि का नाम ही समता है ।
* मन की स्थिति जब तक सतुलित नहीं बनती, तब तक विषमता के कीटाणुओ को नष्ट नहीं किया जा सकता ।
* समता दर्शन से जीवन दर्शन की गहराइयों में उतरकर आत्म-परमात्म दर्शन होते है ।
* समता दर्शन से समस्त समस्याओं का समाधान सरलता पूर्वक खोजा जा सकता है ।
* आध्यात्मिकता की ओर गति करने का स्पष्ट पाथेय ही समता है ।
* समता सिद्धान्त के प्रचार प्रसार के लिये समता साधकों और चरित्र सम्पन्न व्यक्तियों का एक वर्ग बनना जरूरी है ।
* मूल की भूल सुधरते ही समता का वातावरण और धरातल प्राप्त हो जायेगा ।
* प्राकृतिक दृष्टि से सृष्टि की सरचना समता की ही सूचना देती है ।
* मानव समाज में से विषमता के विष को दूर करने के लिये ही समता की आवश्यकता है ।

कुथु जिन मनड़ो किम ही न बाजै

परमात्मा के चरणो में आत्मनिवेदन की दृष्टि से मैंने प्रार्थना की पक्तियों का उच्चारण किया है, क्योंकि सर्वज्ञ, सर्वदर्शी एव सर्वशक्ति से पूर्ण परमात्मा को प्रतिपल हृदय मे अकित रखना प्रत्येक भव्य प्राणी का पवित्र कर्त्तव्य है। मानव स्वय की स्थिति से अपूर्ण होता है, इस कारण अपूर्णता से पूर्णता की दिशा में गतिशील बनने के लिये पूर्ण पुरुष को आदर्श रूप मे समक्ष रखना नितान्त आवश्यक है।

किन्तु वर्तमान युग में आत्मा और परमात्मा सम्बन्धी चर्चाए कुछ धूमिल सी हो रही हैं। पूर्णता की गहराई मे मनुष्य प्रवेश नहीं करता तो उसे अपनी अपूर्णता का भी स्पष्ट आभास नही होता है। वह क्या है और उसको क्या बनना चाहिये-इस चिन्तन से वह विलग होता जा रहा है जिसका सीधा प्रभाव यह हो रहा है कि वह आत्माभिमुखी नहीं बन पाता। जो आत्मा को नहीं देखता, वह सबको आत्मवत् भी कैसे समझ सकता है? आत्माभिमुखी न बनकर सभी सद्‌गुणों का प्रवेशद्वार ही जब वह नहीं खोलता तो आत्मिक गुणो की निधि कैसे प्राप्त हो सकती है ? आज की इस स्थिति का कारण यह है कि मानव केवल भौतिक वातावरण के प्रवाह में अपने जीवन को बहा देना चाहता है। वह यह नहीं सोच रहा हे कि इस जीवन को केवल भौतिकवाद का पुतला ही बनाना है या इसे अभौतिक शक्तियों की निधि भी बनाना है? इस प्रार्थना के माध्यम से यही सोचना है कि सत् चित् आनन्द रूप इस अभौतिक तत्त्व के सान्निध्य मे जो जीवन की लीला हैं, उसे वास्तविक विमलता से विभूषित कैसे बनाया जाय, जीवन में समरसता का प्रवाह कैसे प्रवाहित किया जाय?

जितनी विषमता, उतनी विपरीतता

जीवन की क्रियाशीलता की मूल इस चेतना-शक्ति को समझने में दुविधा प्रतीत होती अवश्य दिखाई दे रही है। इसका कारण स्पष्ट है कि धीरे-धीरे विषम परिस्थितिया इतनी तीव्रता एव जटिलता से प्रसारित हो रही है कि वे चेतन तत्त्व को भली प्रकार समझने में बाधाए उत्पन्न करती हें। जितनी विषमता बढ़ती जाती है, उतनी ही आत्मतत्त्व के प्रति विपरीतता भी बढ़ती जाती है। जो बाहरी विषमताए दिखाई देती हैं, वे भीतरी विषमताओं की उपज होती हैं और ये सब विषमताए मिलकर न तो भीतरी तत्त्व को समझने देती हें ओर न ही आत्मीय गुणो को विकसित होने देती है। जब तक व्यक्तिगत एव सामाजिक दृष्टियों से इन विषमताओ पर समुचित नियत्रण रहता है, तब तक बाह्य वातावरण में भी सन्तुलन वना रहता है, अन्यथा इन विषमताओ के कुप्रभाव से बाह्य वातावरण मे सर्वत्र विपरीतता ही

विपरीतता दृष्टिगत होती है।

इतिहास के पन्ने उलटने अथवा सामान्यतया मानव जाति के विकास की धारण बनाने से यह समझा जा सकता है कि जब तक परिग्रह के जटिल रूपो का विस्तार नहीं हुआ था तथा उसके स्वामित्व के सम्बन्ध मे ममत्व की उग्र भावनाए नहीं फैली थीं, तब तक मनुष्य के मन मे समत्व अधिक था, उसमे उलझने पैदा नहीं हुई थीं और वह विषमताओ के विविध घेरो मे कसा नहीं गया था। तब तक उसकी विचारणा किसी दृष्टि से सही थी और प्रवृत्तियों सरल थीं, इस कारण उसका व्यवसाय एव सामाजिक व्यवहार भी सुलझा हुआ था। किन्तु आधुनिक विज्ञान के माध्यम से ज्यो-ज्यो आवागमन के साधनो का विकास हुआ और व्यापार व व्यवसाय का मशीनीकरण हुआ, अर्जन की परिस्थितिया बदलती गई, परिग्रह के सचय का रूप बदला तथा विषमताओ की खाइयो चौड़ी होती गई ।

इन खाइयो को पाटने के लिये विशिष्ट पुरुषो ने समय-समय पर आध्यात्मिक प्रयोग किये तथा ममत्व को छोड़कर समत्व का दृष्टिकोण बनाने की प्रेरणा भी दी, किन्तु भौतिक विज्ञान को एकान्त रूप से पकड़ लेने के कारण सामान्य जन आध्यात्मिक जागृति की दिशा मे सन्तोषजनक रीति से अभिमुख नहीं बन सका।

परिणाम मे युद्ध और महाविनाश

विषमता की खाइया धीरे-धीरे इतनी चौड़ी होती गई - विपरीतता मनुष्य, समाज एव राष्ट्रो के जीवन मे इस बुरी तरह से समाती गई कि अन्ततोगत्वा ससार को विश्वयुद्धो एव महाविनाश के घातक परिणाम भुगतने पड़े। विज्ञान की प्रगति मे जो केवल भौतिक अनुसधान को ही बल मिला, उसके द्वारा सिर्फ शस्त्रास्त्रो की होड़ ही गहरी होने लगी। आप जानते हैं कि आधुनिक इतिहास का प्रथम विश्वयुद्ध इस शताब्दि के दूसरे दशक मे हुआ तो द्वितीय विश्वयुद्ध पाचवे दशक मे। एक ओर शस्त्रास्त्रो के स्वामी राष्ट्रो ने नरसहार के दृश्य उपस्थित किये तो दूसरी ओर शातिप्रिय व्यक्ति भी अपने प्रयत्नो से विचलित नहीं हुए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लीग ऑफ नेशन्स के नाम से एक विश्व-सगठन की स्थापना हुई तो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सयुक्त राष्ट्र-सघ स्थापित हुआ जो किसी रूप मे विश्व की एकता का प्रतीक कहा जा सकता है।

विषमता जितनी जटिलता से फैलती है, वह मनुष्य के मन को विकृत बनाती है। मनुष्य उस विकृत मन से अपना व्यवहार विकृत बनाता है और इस प्रकार उस विकृति का समाजीकरण होने लगता है। यही सामाजिक विकृति की अवस्था होती है। तब समाज या राष्ट्र या ससार के विभिन्न क्षेत्रो मे विषमता और तज्जन्य विकृतिया लगातार फैलती हुई दिखाई देती हैं। ये विकृतिया ही जब अपने-अपने स्तरो पर सीमाओ की मर्यादाए भी तोड़ देती हैं, तब विस्फोट की सी स्थिति पैदा होती है। व्यक्ति अपने स्तर पर स्वार्थ और हिसा पर उतारू होता है तो समाज, राष्ट्र व ससार अपने-अपने स्तर पर विवाद, विग्रह व युद्ध मे लग

जाता है। विषमता, विपरीतता एव विकृति की इन अवस्थाओं में प्रत्येक स्तर पर ममत्व की होड़ मची रहती है और प्रत्येक अपने ही लिये-अपने ही स्वार्थों को बनाये रखने के लिये सचय करता है। राष्ट्र इस होड़ मे अधिक से अधिक भयानक शस्त्रास्त्रो की खोज करते हैं, उनका निर्माण करते हैं तथा उनका अम्बार जुटाते हैं। परिणाम मे युद्ध और महाविनाश का खतरा खड़ा हो जाता है।

विषमता के विरुद्ध विवेकयुक्त चिन्तन

एक ओर विषमता के पोषक सामान्य शस्त्रास्त्रो से अणु-परमाणु अस्त्रों का विकास कर रहे हैं तो दूसरी ओर विवेकयुक्त चिन्तन का भी सर्वथा अभाव नहीं हे। ये लोग शाति और समता की दिशा मे भी यत्किंचित् प्रयत्न कर रहे हैं और कहा जा सकता है कि इन्हीं के बल पर अब तक भी तृतीय विश्वयुद्ध को घटित होने से बचाया जा सकता है। फिर भी साधारण रूप से देखे तो मानव का सही दिशा-सूचन दृष्टिगत नहीं हो रहा है। यद्यपि भौतिक एव आध्यात्मिक क्षेत्रो मे विचारशील शक्तिया प्रयत्नरत हैं, फिर भी विवेकयुक्त चिन्तन की धारा अभी मन्द हैं। भारत में भी शान्तिदल या अन्यान्य नामो से इस दिशा में यत्न किये जा रहे हैं और जनतन्त्र के नाम पर एक या दूसरे लुभावने नारे दिये जा रहे हैं, किन्तु जनमानस में व्याप्त विषमता एव अशाति के रोग में आशाजनक स्वास्थ्य-लाभ नहीं हो पा रहा है। चारों ओर फैली विषमता की इस विषभरी अवस्था से कुछ भी हो कठिन सघर्ष करना पड़ेगा तथा इस दिशा में विवेकयुक्त चिन्तन ही सही मार्ग-दर्शन करा सकेगा।

भारतीय सस्कृति और भारतीय परम्पराओ की दृष्टि से यदि स्वस्थ चिन्तन किया जाय तो ज्ञात होगा कि इस विषमता की औषधि समता के अमृत के रूप मे हमारे ही यहा उपलब्ध है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि मनुष्य इस अमृतमय उपचार को समझे, हृदयगम करे और आचरण के धरातल पर उसे साकार रूप प्रदान करे। एक व्यक्ति ऐसा करेगा, वह दूसरे को प्रभावित करेगा तथा व्यक्ति-व्यक्ति ही मिलकर अपने सामूहिक आचरण से समाज राष्ट्र एव समूचे विश्व को प्रभावित्त करेंगे तथा विषमता को हटाकर सर्वत्र समता का प्रसार करने मे सफल बन सकेंगे। विवेकयुक्त इस चिन्तन की धारा को गहरी से गहरी बनाते जाइये और गम्भीरतापूर्वक मनन कीजिये, तब आपको अवश्य दिखाई देगा कि यह विषमता कहा से आरम्भ होती है, कहा तक किस प्रकार फैलती ही जाती है तथा वह किन उपायो से समाप्त की जा सकती है? तब यह भी स्पष्ट होगा कि विषमता को समाप्त करके समता का अमृत सब ओर किस प्रकार बिखेरा जा सकता है और किस प्रकार सारे ससार को स्वस्थ प्रगति की दिशा में गतिशील बनाया जा सकता है।

विषमता का उद्गम और फैलाव

विषमता का उद्गम कहा से होता है-उसका मूल कहा है - सबसे पहले इसे जानना जरूरी है ताकि वहीं से विषमता-विरोधी अभियान आरम्भ किया जा सके। गहरे विचार से

स्पष्ट होगा कि विषमता का सूत्र मनुष्य के मन मे ही जन्म लेता हे। मन विमोहित होता हे तो चचल बनता है और स्वार्थ की तरफ आकर्षित होता हे। यह आकर्षण ही अन्दर विषमता के बीज बोता है जो बाहर फूटकर सभी ओर विषमता के प्रतीको का निर्माण करते हैं। मन की स्थिति जब तक सन्तुलित नहीं बनाई जायगी, तब तक विषमता के कीटाणुओ को नष्ट नहीं किया जा सकेगा।

विषमता के ये कीटाणु मन मे जन्म लेते है, व्यक्ति के वचन ओर व्यवहार को विकृत बनाते है तथा व्यक्ति व्यक्ति का विषम व्यवहार तब विषमताओ को समाज, राष्ट्र एव विश्व के विभिन्न अचलो मे फैलाता है। इसका परिणाम अन्ततोगत्वा जहा युद्ध और महाविनाश के रूप मे दिखाई देता है, वहा इसका प्रारम्भ व्यक्ति की अशाति से होता है। यह विषमता सम्पन्न और विपन्न दोनो को अशात बना देती है। सम्पन्न इस कारण अशात रहता है कि क्यो नहीं वह सारी सम्पत्ति को केवल अपने और अपनो ही के लिये सचित करले तो विपन्न की अशाति का कारण स्पष्ट होता है कि वह अपने पेट की आग को भी बुझाने मे सफल नहीं होता है। यह अशान्ति ही फैलती हुई अलग-अलग स्थानो एव स्तरो पर विविध रूपो मे विस्फोट करती रहती है। विषमता के ये विस्फोट मनुष्य जाति की श्रेष्ठ प्रगति को विनष्ट करते रहते है।

विषमता का उद्‌गम कितना सूक्ष्म और कितना अदृश्य सा होता है, किन्तु इसका फैलाव कितना व्यापक और कितना भयावह बन जाता है? विषमता के इस विस्तार को देखकर भी यदि विवेकयुक्त चिन्तन नहीं जागे और सही दिशा मे प्रयत्न नहीं जुटे तो यह बड़ी विडम्बना की स्थिति होगी। विषमता के मूल मानव-मन को आज व्यवस्थित एव सन्तुलित बनाने की सबसे अधिक आवश्यकता है। इस सन्तुलन के पश्चात् ही स्पष्ट होगा कि अगर विषमता को हटाना है तो उसके स्थान पर समता को लाना होगा। असत्य छोड़ना है तो जीवन मे सत्य आना चाहिये। विषमता का स्थान जब सर्वत्र समता ले लेती है तो जीवन का सम्पूर्ण स्वरूप ही बदल जाता है। वर्तमान विषम जीवन को सभी स्तरो पर एक नया परिवर्तन देने के लिये समता-दर्शन ही अमृतमय उपाय है।

समता-दर्शन पर एक दृष्टि

समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक पहलुओ पर विस्तार से चितन किया जा सकता है और इसकी कुछ झलक आपको प्रकाशित पुस्तक समता दर्शन एव व्यवहार मे मिल सकती है। सक्षेप मे यह कहा जा सकता है कि समता समग्र जीवन मे समाहित होनी चाहिये। समता की विरोधी स्थिति होती है ममता की स्थिति। ममता मे मम शब्द का अर्थ होता है मेरा और ममता का अर्थ है मेरापन। जहा मेरापना है-ममता है, वहा स्वार्थ-बुद्धि है, सग्रहवृत्ति है और पदार्थों के प्रति लोलुपता है। जहा ममता है, वहा ममता नहीं है या यो कहे कि सबको अपने तुल्य-आत्मवत् समझने की क्षमता नहीं है। मै ही सुखी बनू और दूसरो के सुख दु ख को

भूल जाऊ -यही विषमता का मूल है। ममता और विषमता की स्थिति में आत्मविस्मृति हो जाती है। ममता में पड़कर मनुष्य अपनी आत्मा को भूल जाता है-अन्तरावलोकन करने की शक्ति खो देता है। अपने अन्दर झाककर सत्य को खोजने की वृत्ति समता की दृष्टि से ही पैदा होती हे और ममता छोड़ने पर समता आती है तो समभाव बनता है, समदृष्टि जन्म लेती है तथा सम-आचरण ढलता है। ममता में भाव, दृष्टि और आचरण बाहर ही बाहर भटकते हैं। वे सुख को बाहर ढूढते हैं और सुख को अपने ही में केन्द्रीभूत करने के दुर्लक्ष्य के कारण हिसा, प्रतिहिसा, विषय विकार, काम क्रोध, मान और लोभ के आवर्तों में चक्कर काटते हैं। फिर भी उन्हें सच्चा सुख नहीं मिल पाता है। सब ओर विषम परिस्थितिया रच करके भी ममता के दास अन्त में दु खी के दु खी ही रह जाते हैं और अपने द्वारा बनाये गये विषमय वातावरण से सब और दु ख का ही प्रसार करते हैं। जहा ममता छूटती है, समता आती है तो सुख की खोज के क्षेत्र भी बदल जाते हैं।

समता का साधक सुख को अपने ही अन्त करण मे खोजता है और उसके लिये सबसे पहले अन्तरावलोकन करना सीखता है। इस अन्तरावलोकन से वह एक ओर प्रभु के निर्मल स्वरूप को देखता है तो दूसरी ओर अपनी आत्मा के मैल को। और तब उसको धोने के लिये आगे बढ़ता है। इस प्रक्रिया में वह पहले अपने मन को नियत्रित एव सन्तुलित बनाता है और बाद में अपने समग्र आचरण को स्वस्थ रूप देता है। सबके साथ उसका व्यवहार समरस बनता है क्योकि वह अपने स्वार्थों का त्याग करता है और दूसरों के हितों को सम्पादित करता है।

समता के आचरण सूत्रों को साधता हुआ वह समतावादी, समताधारी एव समतादर्शी के सोपानो पर चढ़ता हुआ समता-दर्शन से जीवन-दर्शन की गहराइयों में उतारता है तथा आत्मदर्शन से अपना साक्षात्कार करता है, जबकि यही साक्षात्कार उसे परमात्म-दर्शन की ओर गतिशील बनाता है। व्यक्ति का जीवन जहा समता के आचरण से परमात्म-दर्शन तक अग्रसर बनता है, वहा व्यक्ति का समता का आचरण अन्य व्यक्तियो को भी उसके लिये प्रेरित करता है और यही प्रेरणा समाज, राष्ट्र और विश्व के जीवन मे जब साकार रूप ग्रहण करती है तो उसे समाजवाद, साम्यवाद या किसी भी अन्य नाम से पुकारिये-समता का वास्तविक बीजारोपण करती है। समता का सब ओर ऐसा वातावरण तब ममत्त्वहीन अवस्था मे भौतिकता को भी विकेन्द्रित बनाकर सबके सुख का उसे साधन बनाता है तो मुख्य रूप मे आध्यात्मिकता की उत्कृष्ट जागृति से सबके लिये सर्वांगीण विकास के द्वार भी खोलता है। समतादर्शन का यही सार रूप है।

अन्तर्मत को मांजने का प्रयास

समतादर्शन के धरातल पर यदि आज मानव-मन की समस्याओं का समाधान खोजा जाय तो विश्व की समस्त समस्याओ का समाधान भी सरलतापूर्वक खोजा जा सकता है।

इस खोज मे मानव को सबसे पहले अपने ही अन्तर्मन को माजने का प्रयास करना होगा। इस कारण पहली दृष्टि उसे इस तथ्य पर केन्द्रित करनी होगी कि आज उसका अन्तर्जीवन किस जर्जरित अवस्था से गुजर रहा है? मनुष्य के मन मे जिस प्रकार से विषमता का जाल फैला और उलझा है, उसने मानवता का कहा तक अवमूल्यन कर दिया है, उससे मानवता के ह्रास के साथ पारिवारिक, सामाजिक एव राष्ट्रीय जीवन मे कितनी अनैतिकता का समावेश हो रहा है और यही नैतिक पतन विश्व के रगमच पर अन्ततोगत्वा कितना भयावह बन जाता है ! इस क्रम को समझना है और इस क्रम को बदलने का सकल्प लेना है तो इसके लिये सबसे पहले अपने ही अन्तर्मन को माजना होगा।

जैसा कि अभी ससद् सदस्य बीकानेर महाराजा श्री करणीसिह जी ने आपको सकेत किया कि आज चारित्र्य-सम्पन्न व्यक्ति का विषम वातावरण के मध्य जीवित रहना हास्यास्पद सा हो रहा है। मै आपसे भी पूछता हू और महाराजा साहब से भी पूछता हू कि ऐसा क्यो है? क्या आपने इस विडम्बना पर चिन्तन किया है? इस पर चिन्तन आवश्यक है, क्योंकि प्रबुद्ध चिन्तन ही इसके समाधान का मार्ग खोजेगा। आज जन-मानस मे अनियत्रित मन स्थिति के कारण चारित्र्य का समुचित मूल्याकन नहीं है क्योकि वह देखता है कि राष्ट्र मे पद और समाज मे प्रतिष्ठा अधिकाश वे लोग पाते है, जा चारित्रहीन है और अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये उचित-अनुचित का कोई भान नहीं रखते। इस तरह व्यक्ति के चारित्र का अवमूल्यन हो रहा है और अर्थ का मूल्य ही मनुष्य के सिरपर चढकर भूत की तरह बोल रहा है। व्यक्ति का चरित्र गिरा है तो यह गिरावट सभी ओर फैलकर अनीति और अन्याय को बढावा दे रही है। जहा भोतिक शक्ति ही मुख्य बन जाती है और वह आध्यात्मिक शक्ति को दबाना चाहती है, तभी चरित्रहीन वातावरण की सब ओर सृष्टि होती है।

व्यक्तिगत, सामाजिक या राष्ट्रीय चरित्रहीनता, जो आज दिखाई दे रही है, उसके मूल मे भी चहुमुखी विषमता का ही विष व्याप्त है। यही विषमता मन से फूटकर सारे जन-जीवन को जहरीला बनाती हे। तभी कृत्रिम जातियो, कृत्रिम पार्टियों और कृत्रिम ग्रुपो का जन्म होता हे, जो कहते कुछ ओर हें तथा हकीकत मे करते कुछ ओर हैं। इसी दशा मे जनतत्रीय व्यवस्था के दुरुपयोग की स्थिति पेदा होती है। यही विषमता-जन्य विपरीतता की स्थिति ही मानव चारित्र को कलक-कालिमा से काला बनाती रहती है। चारित्र को उन्नत बनाने का प्रश्न इस कारण सबसे पहले हे ओर उसका प्रारम्भ व्यक्ति को अपने ही चरित्र से करना होगा, जिसकी पहली सीढी होगी कि वह अपने अन्तर्मन को माजे।

समता को जीवन मे उतारिये

भोतिक विपमता के कुप्रभाव से दृष्टि कितनी स्थूल बन गई हे कि जब मुद्रा के अवमूल्यन का प्रसग आता ह ता देश के अर्थशास्त्री ओर राजनेता चिन्तित होते हें किन्तु दिनरात जो भारतीय-जन क चारित्र का अवमूल्यन होता जा रहा हे, उसके प्रति चिन्ता तो दूर-उसकी

तरफ नेता लोगो की कार्यकारी दृष्टि तक नहीं जा रही है। विषमता के इस सर्वमुखी सत्रास से विमुक्ति समता को जीवन में उतारने से ही हो सकेगी। समता की भूमिका जब तक जन-जन के मन में स्थापित नहीं होगी, तब तक जीवन की चेतना-शक्ति के भी दर्शन नहीं होंगे। चेतना शक्ति की जागृति के अभाव मे स्थायी रूप से विषमता के दलदल से बाहर निकल पाना सम्भव नहीं होता है।

व्यक्ति से लेकर विश्व के जीवन में शाति के क्षण तभी उद्भूत हो सकेंगे जब चेतना-शक्ति का अभ्युदय होगा। विश्व में दो ही तत्त्व हैं- एक चेतन तो दूसरा जड़। चेतन शक्ति है, वह आत्मशक्ति है, सचालक शक्ति है। जो कुछ चर्मचक्षुओ से दिखाई देता है, वह जड़ तत्त्व है। चेतन और जड़ के मिलन से जीवन की रचना होती है, दृश्य जगत् का निर्माण होता हे। वैसे ही आध्यात्मिकता और भौतिकता सही अर्थो मे एक दूसरे की पूरक होती हैं, बशर्ते कि चेतन नियत्रक हो और जड़ उसके नियत्रण में हो। यह स्वाभाविक प्रक्रिया होनी चाहिये। किन्तु जो केवल भौतिकता को लेकर चलना चाहते है, वे अन्तरात्मा की आवाज को नहीं पहिचानते हैं। वे प्रत्येक समाधान के लिये भौतिक विज्ञान की ओर निहारते है, लेकिन यह नहीं समझ पाते कि इस भौतिक विज्ञान की जननी कौन है? चेतन को जड़ से अनुशासित रखते की पद्धति जीवन में शिथिलता और मलिनता लाती है। जड़ को चलाने वाली चेतन शक्ति होती है तो भौतिक विज्ञान की जननी भी आध्यात्मिकता है। इस विज्ञान का निर्माता आत्मतत्त्व होता है और यही समता का स्वामी हो सकता है।

समतादर्शन के मर्म को इस कारण आन्तरिकता से समझना होगा और उसे जीवन में व्यावहारिक रूप से उतारना होगा। चैतन्य शक्ति मे जब समता व्याप्त होगी तो वह प्रतिपल मन, वाणी एव कर्म से प्रकाशित होती रहेगी। समभाव, समदृष्टि एव सम-व्यवहार के साथ जब जीवन चले तो उसमे फिर विषमता के प्रवेश का अवसर नहीं रहता है। जहा समता की शुद्धि आती है, वहा विषमता की अशुद्धि नहीं रहती।

समता का सही तात्पर्य

समता का यह तात्पर्य नहीं कि जवान और बुड्ढे एक से हो जाए या चारित्र्य-सम्पन्न और चारित्रहीन समान दृष्टि से देखे जाए। यह तो गुणो का अनादर होगा। समता का सही तात्पर्य है, यथार्थ वस्तु की स्थिति यथास्थिति यथायोग्य दर्शन से हो अर्थात् मूल्याकन का मापदड आत्मीयगुण हो मानव की भौतिक प्राप्तिया नहीं। मनुष्य के पास क्या सम्पत्ति है, उससे ऊच नीच का क्रम नहीं बनाया जाय, बल्कि उसके गुणो एव कार्यो के अनुसार मनुष्यों का वर्गीकरण किया जाय। समतादर्शन गुण और कर्म की दृष्टि से किये गये मनुष्य जाति के वर्गीकरण में विश्वास करता है। गुण और कर्म का वर्गीकरण चरित्र की प्रेरणा देता हे और इस मान्यता से मनुष्य चरित्रसम्पन्नता की ओर आगे बढ़े-यही समता का सही तात्पर्य हे।

समता की महती आवश्यकता

समता दर्शन के इस दृष्टिकोण से व्यक्ति का नैतिक चरित्र समुन्नत होगा, राष्ट्रीय धरातल पर उसके राष्ट्रीय चरित्र का विकास होगा तो विश्वनागरिक की दृष्टि से भी वह अपने दायित्व का निर्वाह करेगा। समता का सिद्धान्त भौतिक विज्ञान की उपयोगिया भी समझता है किन्तु उसे आध्यात्मिकता के अनुशासन मे रखना चाहता है। भौतिक वैज्ञानिक भी आन्तरिक महत्त्व को स्वीकार करते हैं। डॉ स्ट्रोमवर्ग ने अपनी नवीन पुस्तक दी सोल ऑफ यूनिवर्स मे भौतिक शक्तियो और आध्यात्मिक तत्त्वो का ऐसा सामजस्यपूर्ण विवेचन किया है, जिसकी भूमिका अलबर्ट आईन्स्टीन ने लिखी है और जिसकी सराहना डा डिविट मिलर ने अपनी पुस्तक डू यू टेक इट विद यू के पहले अध्याय मे की हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि भौतिक वैज्ञानिक भी अपने विज्ञान को पूर्ण नहीं मानते तथा पूर्णता प्राप्त करने के लक्ष्य से आध्यात्मिकता की ओर निहारना चाहते हैं। आध्यात्मिकता की ओर गति करने का स्पष्ट पाथेय ही समता है। समता का सही तात्पर्य जीवन मे स्वार्थवादिता एव पदार्थवादिता से ऊपर उठकर सर्वजन हित की कल्याण कामना से आत्मविकास करना है।

समता आध्यात्मिकता से प्रेरित हो

आध्यात्मिकता से प्रेरित समता ही सर्वत्र गुण एव कर्म की दृष्टि से समानता स्थापित करती है। आज के इस वैज्ञानिक युग मे कई विचारवान् व्यक्ति एव बुद्धिवादी वर्ग भी शारीरिक विज्ञान की दृष्टि से ही सोचा करते है और वे इस धारणा को लेकर चलते हैं कि सारे ससार का सचालन पचभूतपिड स्वरूप शरीर और इसके मूल कोशिकाओ, कोमोजोम और जीन से होता है। किन्तु डॉ स्ट्रोमबर्ग के नये सिद्धान्तो ने विज्ञान-जगत् मे नई हलचल मचा दी है। डॉ वर्ग का प्रतिपादन है कि शरीर की कोशिकाए जो भौतिक पदार्थो से निर्मित हुई हैं, वे अभौतिक दृष्टि से सचालित होती हैं। यह अभौतिक तत्त्व और कोई नहीं, स्वय आत्मा है। द्वितीय युद्धोत्तरकाल के बाद एक प्रमुख वैज्ञानिक ने तर्को के आधार पर आध्यात्मिकता का दृढता से समर्थन किया हे, यह अभौतिक शक्तियो के अनुसधान के लिये शुभ चिह्न है। डॉ स्ट्रोमबर्ग के नये सिद्धान्त-निरूपण से आध्यात्मिक शोध का नया मार्ग खुलेगा।

भारतीय निर्ग्रन्थ श्रमण सस्कृति मे आत्मा-परमात्मा एव जड़ चेतन सम्बन्धी जो विस्तृत विश्लेपण आया हे, वह वेजोड़ है। इस ओर भारतीयो का भी ध्यान विशेष रूप से आकर्षित नहीं हुआ हे। वेसी स्थिति मे डा वर्ग के सिद्धात इस दिशा मे नई प्रेरणा देने वाले सिद्ध होगे। मस्तिप्क का एक भाग पीनियल या ए पी फीसिस (अधिवर्ध) का कार्य करता है-इसका रहस्य अभी तक वेज्ञानिक ज्ञात नहीं कर पाये हें जिसका कि सचालन-सम्बन्ध आत्मिक शक्ति से हें। इस प्रकार भोतिक विज्ञान की दृष्टि से भी यह सिद्ध हो जाय कि सारा सचालन सूत्र अन्तर्शक्ति आत्मा के पास हे तो कोई आश्चर्य नहीं।

अनुभूति से तो यह सिद्ध हे ही कि वस्तुत सचालक आत्मा है और इसी की शक्ति सर्वत्र व्याप्त हे। इस दिशा मे चिकित्सक वर्ग शारीरिक चिकित्सा के साथ-साथ यदि मानव-मस्तिष्क

की गुत्थियो को सुलझाने का भी प्रयास करे तो आध्यात्मिकता की दृष्टि से विषमता के सक्रामक रोग को समाप्त करने में भी सफलता मिल सकेगी। शरीर और मन दोनों को स्वस्थ बना दें तो वहा समता की स्थिति का आना सहज और सरल बन जायगा। फिर आध्यात्मिकता के पुट से उसका निरन्तर विकास होता जायगा।

भौतिक सत्ता और सम्पत्ति की लिप्सा

मैं कभी-कभी सोचता हू कि भौतिक सत्ता ओर सम्पत्ति की लिप्सा मनुष्य के मन मे विषमता की जड़ों को रोपति हे। आज मानव बाहरी पदार्थो को ही सब कुछ समझकर सारा व्यवहार करता है तो वह कई बार उनके लोभ और गुमान में अपने सारे कर्म को भुला देता है। जन साधारण की सेवा में भी त्याग का भाव आना चाहिये किन्तु केवल भौतिकता का दीवाना मनुष्य उसे भी भोग ओर स्वार्थ का साधन बना लेता है। जीवन और खास तौर से शहरी जीवन मे विलासपूर्ण पाश्चात्य सस्कृति का ऐसा दुष्प्रभाव बढ रहा है कि चरित्र-सम्पन्नता जेसी स्थिति का अस्तित्व ही भुला दिया जाता है। समतादर्शन ही इस विपथगामिता को समाप्त कर सकता है।

मैं समतादर्शन का दिग्दर्शन समय-समय पर कराता रहता हू। यह किसी व्यक्ति, जाति या दल की धरोहर नहीं हे। यह तो आत्मीयगुणो की एक विकसित अवस्था हे-आत्मशक्ति का उभार हे, जो आत्मशक्ति प्रत्येक व्यक्ति मे रही हुई हे। यही अभौतिक शक्ति हे। ससार के तुच्छ पदार्थो के पीछे जो अपने जीवन को रोगग्रस्त बनाते हैं ओर भौतिक सत्ता एव सम्पत्ति की लिप्सा मे विकृतियो के जाल मे फसते हैं, उन्हे सावधान होकर इस आत्म-शक्ति की पहिचान करनी चाहिये ताकि वे समता की दिशा मे अपने जीवन को आगे ले जा सके। इसके लिये अन्दर-बाहर की सारी विषमता को समाप्त करनी होगी।

यदि व्यक्ति समता की भूमिका पर दृढता से खड़ा रहे और पूर्ण समजीवन के लक्ष्य को समक्ष रखे तो वह भौतिक सत्ता एव सम्पत्ति की लिप्सा से ग्रसित नहीं होगा तथा उसके सामने कितनी ही विकट परिस्थिति क्यों न आवे, वह समता ही के आधार पर उससे पार जाने का सन्तोषजनक समाधान खोज निकालेगा। कारण, उसे यथायोग्य, यथास्थिति निर्देशन का सही ज्ञान होगा। समता की साधना मे वह उच्चतर श्रेणी में पहुचेगा तो स्वय भौतिकसत्ता एव सम्पत्ति उसके लिये तुच्छ बन जायेंगे। उसकी समग्र दृष्टि आत्मविकास की ओर होगी याने कि उसकी समग्र दृष्टि विश्वकल्याण को अपने में समाहित कर लेगी। यही व्यष्टि का समष्टि म ओर समष्टि का व्यष्टि मे एकाकार होना होता है और इसी की सर्वोत्कृष्ट अवस्था मे आत्मा परमात्म-स्वरूप मे विलीन हो जाती ह।

समता-साधकों का एक वर्ग बने

वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की व्यवस्था जब गुण ओर कर्म पर आधारित बना दी जायगी तो यह बाहरी सत्ता और सम्पत्ति भी किसी की बपौती नहीं रहेगी। समता-साधकों एव

चरित्र-सम्पन्न व्यक्तियो का एक ऐसा वर्ग बने जो समता सिद्धात का प्रचार प्रसार भी करे तथा अपने स्वय के जीवन से समता का आदर्श भी प्रस्तुत करे। इस वर्ग के प्रयत्नो से समता की अवस्था पल्लवित बन कर सब ओर आन्तरिक आनन्द का प्रवाह प्रवाहित कर सकती है। मैं आत्मा का जो यह कथन करता हू, उसे अपेक्षा दृष्टि से समझना चाहिये क्योकि कर्मावरण की दृष्टि से भेद है वरना योग्यता की दृष्टि से सबकी आत्माए समान हैं। मूल चेतना-शक्ति सभी मे रही हुई है और उसे जगाने की आवश्यकता है। यह कार्य ही मुख्य रूप से इस वर्ग को करना है।

यह वर्ग इस तथ्य को भी स्पष्ट करे कि भोतिक एव अभोतिक तत्त्वो का समन्वय किया जा सकता है किन्तु इन दोनो तत्त्वो मे अभोतिक तत्त्व को प्रथम स्थान दिया जाय। यह अभौतिक तत्त्व अविनाशी और अखण्ड है अत इसे सचालक और नियत्रक का स्थान दिया जाय तथा समता दृष्टि के साथ भौतिक तत्त्वो की व्यवस्था की जाय तो आज की कई कठिन समस्याओ का सरल हल निकल आएगा। कोई भी समाधान अशक्य हो सकता है किन्तु असम्भव नहीं और यदि कोई समता दर्शन के चिन्तन एव व्यवहार के धरातल पर इस अशक्य को शक्य बनाने का यत्न करे तो वह भी सफल बन सकता है।

आध्यात्मिकता एव भौतिकता का सफल समन्वय वही कर सकता है जो समता की साधना कर रहा हो क्योकि समदृष्टि के कारण वह दोनो तत्त्वो का यथोचित मूल्याकन कर सकेगा। विषमता से पीड़ित व्यक्ति यदि इन दोनों का समन्वय करना चाहे तो वह कभी भी सही नहीं होगा क्योकि विषमता मे गुणो के मूल्य को स्थान ही कहा होता है? जीवन मे गुणो को प्रश्रय मिले, चरित्र की प्रतिष्ठा स्थापित हो तथा समता आचरण मे समा जाय-इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये समता-साधको का एक वर्ग बने तो समता-प्रसार का कार्य तेजी से प्रगति कर सकता है।

समता के धरातल पर आना ही होगा

आज तो मूल मे ही भूल चल रही है और जब इसको सुधारेंगे तब समता के धरातल पर आना ही होगा। अन्तर्मन को माजने पर ही मूल की भूल सुधर सकेगी। आज करे, कल करे या उसके बाद किन्तु इस भूल को सुधारने से ही काम चलेगा तथा समता के धरातल पर खड़ा होना ही पड़ेगा। मैं अपनी स्थिति से अपने कर्त्तव्य को सामने रखकर ही समता दर्शन के विषय मे कहता रहता हू। अब कोई सुने या नहीं सुने-पाले या नहीं पाले, मैं अपने कर्त्तव्य का पालन करते हुए चल रहा हू। प्राचीन काल मे भी महापुरुषो ने इस सम्बन्ध मे अपने कर्त्तव्य को पूरा किया। समझने वाले व्यक्तियो ने आत्महित एव लोकहित की भावना से अपनी प्रगति सम्पादित कर ली और जो प्रमाद मे डूबे रहे, वे आत्मपतन के दलदल में ही डूबे हुए रहे। आज भी अपनी प्रबुद्धता से समतादर्शन पर चिन्तन की गहरी आवश्यकता है तथा उसके आधार पर आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक विज्ञान को समझा जाना चाहिये।

आप देखेंगे कि प्रकृति कितनी समरस होकर चलती हे। प्राकृतिक दृष्टि से सृष्टि की सरचना समता की ही सूचना देती है। सूर्य समभाव से अपनी गति करता है-बादलों की विषमता से वह विचलित नहीं होता। वास्तव मे यह भूतल समता की दृष्टि से चल रहा है। फिर मानव ही क्यों समता से दूर हटता जाता हे? उसे प्राकृतिक तत्त्वों से शिक्षा लेनी चाहिये। पानी भी समता की गति में चलता हे और यह मनुष्य विषमता में ही उलझा रहे-यह न वाछनीय है, न शोभनीय। समता के धरातल पर उसे अन्ततोगत्वा आना ही होगा तो फिर क्यो न शीघ्रातिशीघ्र वह इस धरातल पर आ ही जाय? समता का यही धरातल समग्र जीवन के चहुमुखी विकास का मार्ग प्रशस्त करेगा और व्यक्ति व समाज के जीवन में शान्ति का प्रसार करेगा-ऐसी शान्ति जो स्थायी रूप से मानव जीवन को सार्थक वना देगी। आज सम्पूर्ण मानव समाज में से विषमता के विष को दूर करने के लिये समता की महती आवश्यकता है।

गगाशहर-भीनासर

दि २३-१२-७३

4

तप : सत्पुरुषार्थ के रूप में

✱ गुण प्रधान धर्म मे व्यक्ति पूजा करना आगम मान्य नही है ।

✱ सत्पुरूषार्थ के माध्यम से ही आत्मा अपनी समस्त आन्तरिक शक्तियों को प्रकटित कर सकती है ।

✱ सम्यक् दृष्टि से सत्पुरुपार्थी बनकर श्रावक-वृत साधु-व्रत ग्रहण करता है ।

✱ केवल-ज्ञान की उपलब्धि पुरुपार्थ की उच्चतर श्रेणिया है ।

✱ सद् विवेक के साथ सत्पुरुपार्थ करें तो आत्मिक शक्तियों शीघ्र होता है ।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्ति के स्वरूप को अवगत करने की दृष्टि से इस प्रार्थना की पक्तियों के उच्चारण का प्रसग प्रतिदिन चल रहा है। यह एक तो तीर्थकरों के महान् उपकार को स्मृति-पटल पर लाने तथा दूसरे, मगलाचरण की दृष्टि से किया जाता है। परन्तु इसके साथ ही प्रभु की चरम शान्ति का वह अनुभव, जो शास्त्रों के माध्यम से भव्य आत्माओ के समक्ष आता है, उसको हृदयगम करने का प्रयास भी किया जाना चाहिये।

इस प्रार्थना की पक्तियों का गुथन कुछ विचित्र रीति से हुआ है। परमात्मा के चरणों में नमस्कार हर कोई प्राणी करता है जो उस स्वरूप को आदर्श मानता है। परन्तु स्वय को नमस्कार करने का प्रसग विरला ही आता है। अपितु कभी-कभी स्वय के विषय में किन्हीं विशिष्ट गुणों का कथन करने को कोई बाध्य करे तब भी व्यक्ति सकोच ही करता है। किन्तु इन कड़ियों में स्वय के गुणों का कथन नहीं किया गया है, बल्कि स्वय को नमस्कार भी किया है। जैसे इस बात से कवि के शब्दों में अति आश्चर्य है, आत्मा मे अति आश्चर्य है, वैसे ही श्रोताओ को भी आश्चर्य हुए बिना नहीं रहेगा। यह कैसी बात है कि आत्मा स्वय के ही गुणो का कथन करे और स्वय को ही नमस्कार करे!

आपका अनुभव है कि नमस्कार तो दूसरो को किया जाता है। नमस्कार की क्रिया मे दो की आवश्यकता होती है-एक नमस्करणीय हो और दूसरा नमस्कर्त्ता। नमस्करणीय नमस्कर्त्ता से बड़ा होता है। इसका अर्थ है कि जिसको नमस्कार किया जाता है, वह नमस्कार करने वाले से अधिक गुणसम्पन्न एव चारित्र्यशील हो। ऐसा व्यक्ति ही वन्दनीय और सम्माननीय बनता है। इस तरह वन्दन करने वाला और वन्दन पाने वाला-दोनों अलग-अलग होते हैं। यह प्रक्रिया सामान्य जन मे प्रचलित है। किन्तु स्वय आत्मा अपने आपको करे और अपने आपको नमस्कार करे- यह प्रक्रिया हर किसी को जल्दी से समझ मे आने वाली नहीं है। इसी कारण प्रार्थना की इन पक्तियो के गूढार्थ को उतनी ही गहरी दृष्टि एव विचारण से समझने की आवश्यकता है।

आत्मा-शक्ति को महत्त्व देना

मैं जहां तक सोचता हूं इन पक्तियो मे एक नय की दृष्टि से कथन किया गया है और इसमें आत्म-शक्ति को सर्वोपरि महत्त्व दिया गया है। आत्मा की किस शक्ति को विशेष महत्त्व दिया

तथा किस शक्ति को कम-यह भी एक ऐसा प्रश्न है, जिससे कभी उलझने पैदा हो सकती हैं। आत्मा की विकासकारक सभी शक्तिया समान रूप से महत्त्वपूर्ण होती है। उन शक्तियो मे से एक को अधिक महत्त्व और दूसरी को कम महत्त्व देने की स्थिति नहीं होती है। आत्मशक्ति को महत्त्व देने मे कोई व्यक्ति-पूजा की शका करे तो वह उचित नही है। व्यक्ति-पूजा तो वहा कहला सकती है, जहा गुणशून्य व्यक्ति को महत्त्व दिया जाय। परन्तु जहा गुणो को प्रधानता दी जाती हो, वहा व्यक्ति-पूजा नहीं कहला सकती है।

आत्म-शक्ति को महत्त्व देने का अभिप्राय यह है कि गुणो की प्रधानता के अनुसार व्यक्ति को केन्द्र मानकर उन गुणो का सत्कार किया जाय। वस्तुत यह व्यक्ति-पूजा नहीं, गुण-पूजा होगी। सभी व्यक्तियो मे सत्ता के रूप मे गुण रहने पर भी उन्हीं गुणो के विकास एव प्रत्यक्ष दर्शन मे विभिन्न व्यक्तियो मे तारतम्यता अवश्य दिखाई देती है। एक स्तर ऐसा भी आता है, जहा पर किन्हीं गुणो की सबमे समानता भी परिलक्षित हो सकती है परन्तु ऐसे स्तर के पहले उस समता को प्राप्त करने में जिस शक्ति विशेष का योगदान रहता है, उस शक्ति को विशिष्ट कहना पड़ेगा। यह विशिष्ट शक्ति ही आत्मशक्ति होती है जिसका प्रकटीकरण व्यक्ति-व्यक्ति मे पृथक्-पृथक् होता है। इसी आत्म-शक्ति को विकास की दृष्टि से महत्त्व दिया जाता है तथा नमस्करणीय माना जाता है।

स्व की अनुभूति कैसे

प्रश्न यहा पर एक के आत्मिक गुणों के विकास का है। विकासशील आत्माओ के जब घाती कर्म नष्ट हो जाते है तो उन्हे केवल ज्ञान एव केवल दर्शन की उपलब्धि होती है। उस वक्त सर्वज्ञता के नाते केवलज्ञान सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होता है तो क्या केवल ज्ञानी अपने केवलज्ञान को महत्त्व देकर केवल-ज्ञान को नमस्कार करते है या अपने भीतर रहने वाली समग्र शक्तियो को नमस्कार करते हैं? अब सोचये कि केवलज्ञान की उपलब्धि किससे हुई? केवलज्ञान की सत्ता-केवलज्ञान की योग्यता आप मे भी रही हुई है और आप मे ही क्या, ससार की समस्त भव्य आत्माओ मे वह सत्ता रूप मे रही हुई है, न कि प्रकटीकृत रूप मे। एकेन्द्रिय जीव की आत्मा मे भी सिद्ध की शक्तिया सत्ता रूप मे रही हुई होती है। तब प्रश्न यह उठता हे कि वे आत्माए उस सिद्ध अवस्था एव केवलज्ञान की योग्यता को प्रकट क्यो नहीं कर पा रही हैं? क्या उन आत्माओ को केवली भगवान् का निमित्त नहीं मिला अथवा उनके सामने सत्सगति का सयोग नहीं आया? कहा जा सकता है कि ऐसी बात नही है। सयोग और निमित्त मिलने के बाद भी वे आत्माए अपनी आन्तरिक शक्तियो को नहीं जगा पाई और मूर्च्छित अवस्था मे चल रही हे। इसके विपरीत जिन आत्माओं ने अपनी शक्ति के महत्त्व को समझा और उसके माध्यम मे सहचरी शक्तियों को उभारने का प्रयास किया, उन्होने अपना विकास भी कर लिया।

इस विकास का मूल यह है कि एक आत्मा को स्व की अनुभूति होनी चाहिये। यह अनुभूति कैसे होती है? स्व की अनुभूति तभी हो सकती है, जब पहले स्व का अस्तित्व स्वीकारा जाता है। स्व है-यह मान लेने पर ही स्व कैसा है-इसकी समीक्षा की जाती है और यही समीक्षा स्वानुभूति की आधार होती है। कल्पना करें कि एक परिवार के निवासस्थान में चारों तरफ से आग लग गई और सभी सदस्य उसे देखकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ हो गये, किन्तु परिवार का मुखिया साहसिक था। वह कहता है-रोते -चिल्लाते क्यों हो? आओ, मैं तुम्हे बाहर निकालता हू। ऐसा साहस बताने वाला, मार्ग दिखाने वाला और पुरुषार्थ करने वाला मुखिया सारे परिवार को बचा लेता है। इसी प्रकार आत्मा के अन्दर की सारी शक्तियों का भी एक परिवार होता है। इन्हीं सारी आत्मिक शक्तियों के इर्द-गिर्द विषय और कषाय की ज्वालाए सुलग रही हैं। अब स्वानुभूति के साथ जब विवेक शक्ति जागृत होती है तो वह एक ही शक्ति अन्य सारी शक्तियों को इन ज्वालाओ से बचा लेती है। अकेली स्वानुभूतिपूर्ण विवेक-शक्ति सभी शक्तियों को जागृत बनाती हुई आत्मा को विषय-कषाय की ज्वालाओं से बाहर निकाल लेती है। यदि स्व की अनुभूति सदा जीवन्त बनी रहती है तो आत्मीय शक्तियों की रक्षा भी होती है तथा उनका यथोचित विकास भी होता है।

विशिष्ट शक्ति को पहिचानिये

आत्मा की अन्यान्य शक्तिया, जो अपने आप में सक्षम नहीं होती हैं तो उनको सक्षमता प्रदान करने के लिये जब एक विशिष्ट शक्ति को प्रकट कर देते हैं तो केवलज्ञान एव केवलदर्शन तक का उच्चतम विकास भी सम्पादित किया जा सकता है। वह विशिष्ट शक्ति कौनसी है? आप यदि उस शक्ति को नहीं भूले -स्मृति एव कृति में उसे दृढ़तापूर्वक पकड़े रखे तो वह शक्ति आपको सर्वत्र सफलता दिला सकती है। वह शक्ति प्रत्येक आत्मा के पास ह, सिर्फ जरूरत इस बात की है कि उस विशिष्ट शक्ति को पहिचान कर-जगा कर उसे सतत सक्रिय बनाई जाय। यो भी कह सकते हैं कि वह शक्ति सक्रिय तो है किन्तु स्वानुभूति पूर्ण विवेक के अभाव मे उसका दुरुपयोग हो रहा है और वह दुरुपयोग दुर्भाग्य का कारण बन रहा है। उस शक्ति के सदुपयोग की आवश्यकता है।

यह विशिष्ट शक्ति सत्पुरुषार्थ की शक्ति है। सत्पुरुषार्थ के माध्यम से ही आत्मा अपनी समस्त आन्तरिक शक्तियो को प्रकटित कर सकती है। सत्पुरुषार्थ के अभाव मे वह पुरुषार्थ शक्ति काम तो करती है, किन्तु वह दुरुपयोग मे गिर कर विकृत रूप लिये हुए होती ह और उस रूप से वह आत्म-शक्ति को डसती रहती है। यह सत्य है कि पुरुषार्थ-शून्य कोई भी आत्मा नहीं होती। पुरुषार्थ आत्मा का मूल स्वभाव है किन्तु यह किस धारा म बहता है-यही देखने की बात होती है। वह शान्ति की धारा ह या अशान्ति की धारा है, आत्म [illegible] की धारा है अथवा आत्म-पतन की धारा है ? इस तथ्य की समीक्षा करना ही इस विशिष्ट शक्ति को पहिचानना कहलाता है। पहले शक्ति के अस्तित्व को मानकर ही उसकी [illegible] [illegible] कि उसकी धारा सु है या कु? पुत्र सपूत है या कपूत है-यह [illegible] [illegible]

स्वीकार करने के बाद ही लगेगा। पुत्र को सपूत होना चाहिये वैसे ही पुरुपार्थ मूलत आत्मा की समस्त शक्तियो को जगाने का केन्द्र रूप वनना चाहिये। किन्तु वह पुरुषार्थ यदि शान्ति का सत्पुरुषार्थ है तो वह आपको आत्मा की अमित शान्ति के दर्शन करा सकेगा और यदि वह पुरुषार्थ दिशाशून्य पुरुषार्थ हे-अशान्ति का कुपुरुपार्थ हे तो वह आत्मा को पतन की घाटियो मे भटकाता रहता हे। ऐसा कुपुरुषार्थ ससारी आत्माओ को दु ख के झझावातो में अनादि काल से पटकता आया हे और उसके वने रहने पर आगे भी पटकता रख सकता हे।

पुरुषार्थ का गतिक्रम कैसा

यह देखने की वस्तुस्थिति होती है कि आत्मा मे पुरुषार्थ किस रूप मे रहा हुआ हे-उसका गतिक्रम कैसा है? पुरुषार्थ वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम से प्रत्येक आत्मा को प्राप्त होता है। इसी के फलस्वरूप आत्मा शारीरिक अवस्था मे हलन-चलन करती है, उठती-बैठती है, सोती-जागती और खाती-पीती हे। यह सब भी पुरुषार्थ ही है। यह पुरुषार्थ मनुष्यो मे ही नहीं, पशु-पक्षियो मे भी होता है, कीट-कीटाणुओ मे भी होता है तो नरक व देव योनियो मे भी होता है। यह पुरुषार्थ हलन-चलन नही करने वाली वनस्पति मे भी हे। वनस्पति दीखने मे तो एक स्थान पर दीखती है, परन्तु वह भी पुरुषार्थ से काम करती है। वह बीज से अकुरित होकर वृक्ष का रूप लेती है तो भूमि से वह अपने योग्य आहार ग्रहण करती है, पल्लवित और पुष्पित होती है एव फलो से सज्जित भी होती है। इसके साथ ही वह अपने को विरोधी तत्त्वो से दूर भी रखती है। अपने योग्य आहार को ही ग्रहण करना यह पुरुषार्थ शक्ति से ही सम्भव होता है। इसी पुरुषार्थ -बल से वनस्पति के छोटे जीव भी पुण्यो का सचय करते हुए एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय और इस तरह आगे तक उत्थान करते हुए सर्वोच्च विकास तक भी पहुच सकते है। ऐसा होता है पुरुषार्थ का गतिक्रम।

पुरुषार्थ के साथ भाग्य की बात भी समझ लीजिये। पुरुषार्थ के बल से वनस्पति का छोटा-सा जीव भी मनुष्य जीवन प्राप्त कर सकता है, तब भाग्य किस स्थिति का नाम है? अज्ञान के कारण जो लोग भाग्य को बड़ा महत्त्व देते है, वे सोचते है कि इस ससार मे जो कुछ है, वह भाग्य है। भाग्य उसका अच्छा है तो अच्छा होगा और बुरा है तो बुरा होगा। जो भाग्य को ही सब कुछ समझ कर चलते हैं, वे अपनी पुरुषार्थ शक्ति का उपयुक्त मूल्याकन नहीं कर पाते हैं। जिनके जीवन मे सद्विवेक की जागृति होती है, वे अपने पुरुषार्थ को सत्पुरुषार्थ का रूप देकर यही चिन्तन करते है कि भाग्य की बात उनके लिये कुछ भी नहीं है, क्योकि पूर्व मे जिन कर्मों का सचय किया जा चुका है, उनका फल भोगे बिना छुटकारा नहीं। उस भोग को अवश्यभावी समझ कर समभाव से वे उनका फल भोगते है तथा अपने पुरुषार्थ को पूर्व सचित कर्मों को नष्ट करने तथा नवीन कर्म बन्धन करने मे लगाते हैं। यह तो होता है स्वस्थ चिन्तन। परन्तु उस कर्म फल को व्यर्थ करने अथवा उसके भोग से बचने की शक्ति पुरुषार्थ मे नहीं रहने से वहा भाग्य की सज्ञा दे दी जाती है। पुरुषार्थ तो वहा भी सक्रिय है क्योकि वैसी

भाग्य रेखा का निर्माण या दुर्भाग्य का सृजन उसके ही असद् पुरुषार्थ से होता है। जो पहले का पुरुषार्थ है, वही इस जन्म का भाग्य या दैव बन जाता है।

भाग्य पुरुषार्थ की ही रचना

भाग्य को इस सदर्भ मे देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि स्वय का भाग्य स्वय ही के पुरुषार्थ की रचना मात्र होता है सद्विवेकी व्यक्ति तो इसी स्थिति से चिन्तन करता है और भाग्य को अपने हाथ का खिलोना समझता है। वह जानता है कि भाग्य अपने ही पुरुषार्थ से बनाया जाता है और परिवर्तित भी किया जा सकता है। वह अपने पुरुषार्थ की डोर को कभी भाग्य के हाथों में नहीं सौंपता। साधारण व्यक्ति कभी पुरुषार्थ करते-करते थक जाता है-निराश हो जाता है तो सद्विवेकी पुरुष उसे साहस बधाता है कि थको मत, निरन्तर पुरुषार्थ करते रहो। जो निकाचित कर्म बधे हुए हैं, वे अमुक समय तक नष्ट हो जायेंगे-फिर पुरुषार्थ का फल प्रकट होगा।

यह सोचने की बात है कि पुरुषार्थ का फल कभी भी डूबता नहीं है। सत्पुरुषार्थ के साथ जो कार्य किया जायेगा, वह व्यर्थ नही होगा। इस प्रकार वस्तुस्थिति की दृष्टि से एक नये के अनुसार चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि दुर्भाग्य का निर्माण उसी के असद् पुरुषार्थ ने किया है। और जब विवेक का दीपक प्रज्वलित होता है तो वह अपने भाग्य को बदलने के लिये कमर कस लेता है और अपने पुरुषार्थ को सत्पुरुषार्थ का रूप दे देता है। तब वह सत्पुरुषार्थ के बल से आगे बढता है तथा सोचना आरम्भ करता है कि आत्म शक्तियों को जलाने वाली विषय और कषाय की ज्वालाओ का शमन करने में वह अपने पुरुषार्थ की शक्ति से सक्षम और समर्थ है। उसका आत्म-विश्वास ज्यो-ज्यों प्रबल बनता है, वह आश्वस्त बनता जाता है कि उसकी पुरुषार्थ शक्ति के आधार पर उसकी समस्त आत्मिक शक्तिया भी प्रबुद्ध बन सकेगी। पुरुषार्थ ही आत्मा मे सामर्थ्य का विश्वास उत्पन्न करता है। ऐसे पुरुषार्थी को भाग्य का कुछ भी विशेष मूल्य नहीं दिखाई देता है।

पुरुषार्थ की उच्चतर श्रेणियां

जिस पुरुष मे सत्पुरुषार्थ जागृत हो जाता है, वह एक प्रकार से विकास की मञ्जिले तय करने के लिये उठ कर खड़ा हो जाता है। सम्यक्-दृष्टि से सत्पुरुषार्थी बन कर जब वह कुछ ऊंचाई लेता है तो श्रावक-व्रत को ग्रहण करता है और विशेष उत्साह पैदा हो जाता है तो साधु-व्रत को भी अंगीकार कर लेता है। साधु-व्रत मे पुरुषार्थ तीनो योगो से चलता है-मन, वचन और काया-तीनो से सत्पुरुषार्थ की साधना होती है। यही सत्पुरुषार्थ जब [illegible] बनता है तो आन्तरिक शक्तिया विकसित होती और आल्हाद करती हुई उस गुणस्थान तक पहुंचती है जहा केवल ज्ञान की उपलब्धि होती है।

केवल ज्ञान की उपलब्धि पुरुषार्थ की ही उच्चतर श्रेणियो मे होती है क्योकि पुरुषार्थ से ही [illegible] की परिपूर्णता प्राप्त होती है और इसी परिपूर्णता से चरम ज्ञान एव दर्शन की

उपलब्धि होती है। ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की परिपूर्णता तभी वनती हे, जव मन, वचन एव काया के सभी योगो मे सत्पुरुषार्थ के वल से एकरूपता एव परिपूर्णता प्रकट होती हे। तीनों योगो की एक धारा का पुरुषार्थ ही कर्म बन्धनो को तोड़ने मे सफल बनता है। योग-पद्धति से देखा जाय तो यह सब आन्तरिक शक्ति का ही विकास हे। ऐसे योग की सज्ञा अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाली आत्मिक शक्ति ही होती हे। जव यही योग सत्रा, मन, वचन एव काया के माध्यम से सफल बनती है तो वह विषय ओर कपाय के समग्र मल्ल कर्मो को पछाड़ कर आत्मा मे परमात्म स्वरूप को प्रकट करने मे समर्थ हो जाती है।

पुरुषार्थ को सत्शक्ति की उच्चतर श्रेणियो मे पहुचा देने पर उसी के बल से चारित्र्य परिपूर्ण बनता है तो ज्ञान, दर्शन भी अपने विकास की चरम सीमा पर पहुच जाते हैं। योगो का उच्चतम सत्पुरुषार्थ आत्मा को सर्वज्ञाता एव सर्वदृष्टा की श्रेष्ठ शक्ति प्रदान करता है। केवलज्ञान की अवस्था मे आत्मा अपनी समग्र आन्तरिक शक्तियो का मर्म जानने मे समर्थ बन जाती है।

अहो, अहो ! हुं मुझने कहूं

इसी अवस्था में आकर आत्मा मे अति आश्चर्य की स्थिति पैदा होती है और तब आत्मा स्वय अपने से ही कथन करने लगती है कि अहो, अहो! हु मुझने कहू । वास्तव में क्या कुछ कहा जाय ? उस वक्त आत्मा की समस्त शक्तिया अति आश्चर्य के साथ सोचती है कि आत्म-शक्तियो मे दाह पैदा करने वाले विषय और कषाय के विकारो को नष्ट कर लेने के बाद अन्त करण मे कितनी अभूतपूर्व शाति उत्पन्न हो जाती है? उसका वह शान्ति का अनुभव उसके सत्पुरुषार्थ का प्रतीक होता है। वह आत्मा अति आश्चर्य के साथ मानती है कि यदि सत्पुरुषार्थ को वह नहीं अपनाती तो वह इस आश्चर्यकारी शान्ति की अनुभूति भी नहीं ले पाती। तब वह भाव-विभोर होकर कहती है-मैं अब अपने आपसे ही करती हू कि मै नमस्कार करने किसको जाऊ? वह परमात्म स्वरूप जब मुझ मे ही प्रकट हो गया है तब मै अपने आपको ही नमस्कार करू तो क्या? ऐसी विचारदशा एव प्रक्रिया आत्मा की प्रौढ़ अवस्था मे बनती है।

जब प्रार्थना की पक्तियो की पुरुषार्थ की शक्ति के साथ सम्बन्धित करके समझना चाहेगे तो आपकी कोई सन्देह नहीं रहेगा कि उपादान, निमित्त एव सहकारी कारणो के सयोग के बाद भी पुरुषार्थ शक्ति ही आन्तरिक चेतना को जागृत एव विकसित बनाती है। पुरुषार्थ शक्ति भी दो प्रकार की होती है सद् और असद्। परन्तु जहा आध्यात्मिक दृष्टि की शक्तिया हैं, उनमे उपादान निमित्त एव सहकारी कारणो के साथ जब चौथी शक्ति सत्पुरुषार्थ की जागती है तब आत्मा विकृतियो के मैल से हटकर उन्नति की उज्ज्वलता की ओर अग्रसर होती है।

पुरुषार्थ सद् या असद्

मनुष्य सोचे कि हमको मानव-जन्म मिला, आर्य क्षेत्र मिला, सन्त समागम एव वीतराग वाणी का श्रवण मिल रहा है, तब ऐसी अवस्था में हम कैसा पुरुषार्थ कर रहे है? वह पुरुषार्थ

सद है अथवा असद्? उसके प्रयत्न सत्प्रयत्न रूप हैं या दुष्प्रयत्न रूप हैं ?

इसकी समीक्षा और इसका निर्णय प्रत्येक भव्य आत्मा अपने ही चिन्तन के धरातल पर ले सकती है किन्तु ऐसा चिन्तन एकान्त के क्षणो में आत्मालीनता से परिपूर्ण होना चाहिये। उस चिन्तन में आत्मा स्वय से ही पूछे कि उसका वर्तमान पुरुषार्थ सद् है अथवा असद् तो सही जानें कि उसका समुचित उत्तर उसकी अन्तरात्मा से अवश्य ही मिलेगा। जो आत्मा इस प्रकार अपने आपसे पूछना सीख जाती है, वह आहिस्ता-२ ही सही-किन्तु विषय एव कषाय की ज्वालाओ का शमन करने के लिये अपने सत्पुरुषार्थ को लगाना आरम्भ भी कर देती है।

इसी सत्पुरुषार्थ का एक सद्रूप मैंने तप को बताया है जो आभ्यन्तर और बाह्य प्रकारों से बारह तरह का होता है। अशन, पान, खादम, स्वादम का त्याग करे तो वह अनशन तप होता है। जिसकी शक्ति हो वह इस तप को भी करे और जिसकी कम शक्ति ही तो वह कषाय का परित्याग करने का सत्पुरुषार्थ करे। वैसे बाह्य और आभ्यन्तर दोनो प्रकार के तप सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य करने चाहिये। उपवास, बेला, तेला आदि तप करने की परिस्थिति मे आपका पुरुषार्थ, आपकी आत्मशक्ति अवश्य लगती है, परन्तु इसमें जितना जोर नहीं लगता, उससे कई गुना अधिक शक्तिशाली सघर्ष कषाय का परित्याग करने के लिये करना पड़ता है। भगवान् महावीर ने तप के विविध प्रकार बताए हैं और प्रसग आया तो बताने का प्रयास करूगा कि इस तप का व्यापारिक क्षेत्र में भी कैसे सफल प्रयोग किया जा सकता है तथा बदनाम व्यापार को पूर्णतया नैतिक आप कैसे बना सकते हैं।

पुरुषार्थ को मूलत भावनात्मक रूप से सद् बनाने के लिये तप के आभ्यन्तर प्रकारो का भी विशेष प्रयोग किया जाना चाहिये। क्रोध नहीं करने, किसी का दिल नहीं दुखाने, झूठ नहीं बोलने आदि के अमुक अवधि तक के नियम दिलाने की ओर सन्त-सतियो का, तो ऐसे नियम लेने की दृष्टि से आपका ध्यान भी आकर्षित होना चाहिये।

सत्पुरुषार्थ की कठिन सीढी-मानसिक तप

वैसे बीकानेर, भीनासर, गगाशहर की जनता सत्पुरुषार्थ मे विशेष तत्पर रहती हे-इसको ज्यादा उपदेश देने की जरूरत नही है। यहा भीनासर मे आते ही कुछ व्याख्यान सुनने के बाद पचरगी तप चालू कर दिया गया हे तो मेरे मन मे भी यहा के लोगो के सत्पुरुषार्थ की सराहना करने की भावना जरूर जागृत हुई है। एक वात जरूर हे कि यहा मानसिक तप के प्रकारो का विशेष ज्ञान नहीं होने से अनशन आदि कायिक तप पर ही अधिक बल देते हैं। इसलिये मैने विशेष विश्लेषण किया कि जितने मानसिक तप हें, उनके आराधन मे भी सत्पुरुषार्थ का नियोजन किया जाना चाहिये । जितनी शक्ति हो, उतना तप ही करे परन्तु भावनात्मक धरातल का निर्माण भी अवश्य करने की ओर आप तत्पर बने।

मानसिक तप आदि जीवन के बहुतेरे प्रसग होते हैं, जिनमे सद्विवेक के साथ सत्पुरुषार्थ का प्रयोग किया जाय तो समग्र आत्मिक शक्तियो को प्रकाशित करने मे व्यापक सहयोग मिल सकता है। सत्पुरुषार्थ को लगाने की उमग मे स्त्री-पुरुष या बच्चे-बूढे का कोई अन्तर नहीं पड़ता। आज एक छोटे से बच्चे ने सुबह ही आकर मुझे कहा-महाराज, एक महीने तक रात्रि भोजन एव हरी वनस्पति के त्याग करा दीजिये। उसने त्याग कर लिये किन्तु एक बच्चे की आत्मा मे भी उमग है तो सत्पुरुषार्थ से उस आत्मा को भी मार्ग मिल जाता है।

वैचारिक धरातल समुन्नत बने

आप अधिकतर व्याख्यान सुनते है किन्तु चिन्तन और जिज्ञासा की वृत्ति को अपनाने का अभ्यास कम है। इस अभ्यास को बढ़ाने की जरूरत है क्योकि सुनने के बाद सोचने और सोचने के बाद शका निवारण करके त्याग करने की वृत्ति को नियमित बनाने से वैचारिक धरातल बन सकेगा। इससे तात्विक बातो को समझने का माद्दा भी बढता रहेगा। यदि सत्पुरुषार्थ की गति समुन्नत वैचारिक धरातल पर आगे बढती रही तो कौनसा ऐसा कार्य है जिसे सम्पादित नहीं किया जा सके।

वर्तमान युग मे कुछ करने, कुछ खोजने और कुछ पाने की भावना अगर दिखाई देती है तो वह भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे है और परिणामस्वरूप वहा नई-नई उपलब्धिया भी मिल रही है। किन्तु सोचिये कि आध्यात्मिक दिशा भी विज्ञान की ही दिशा है बल्कि आध्यात्मिक विज्ञान तो परम विज्ञान है। विज्ञान वही जहा ज्ञान और प्रयोग दोनो को समान स्थान है। ज्ञान जब प्रयोग मे आकर अपने परिणाम प्रकट करता है तो वास्तव मे उसके प्रति आस्था भी अधिक सुदृढ होती है। इस आध्यात्मिक क्षेत्र मे भी सद्विवेक एव सत्पुरुषार्थ का आप आवश्यक क्रम बनादे तो वैज्ञानिक उपलब्धियो की तरह जब आत्मिक शक्तिया प्रकट होने लगेगी तो निश्चित मानिये कि अन्त करण का आह्लाद प्रकट होगा और जीवन मे सच्ची शान्ति प्राप्त हो सकेगी।

सद्विवेक और सत्पुरुषार्थ का तालमेल यदि बराबर बैठता रहे तो वैचारिक धरातल की पुष्टि के साथ त्यागमय आचरण भी अभिवृद्ध होता रहेगा। इस स्तर पर पहुच कर आप

अपनी शक्तियो का मूल्याकन करेंगे तो आत्मविश्वास की मात्रा भी बढती जायगी। आत्म-विश्वास की विद्यमानता मे कितनी ही कठिनाइया एव विपत्तिया आवे तब भी उनको पार करते हुए आत्मा आगे और आगे गतिशील बनी रह सकती है।

आन्तरिक शक्तियो का प्राभाविक स्वरूप

जहा आत्मा की आन्तरिक शक्तिया प्रकाश मे आने लगती है तो फिर वे बाहर के वातावरण को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहती। दमयन्ती के चरित्र मे आप सुन रहे है कि आन्तरिक शक्ति के साथ उसके बाहर के सब सकट गौण बन गये। इस सन्दर्भ मे यह भी ध्यान मे लेने की बात है कि पुरुषार्थ की दृष्टि से, धर्म की दृष्टि से तथा जीवन विकास की दृष्टि से पुरुष और महिलाओं में समान शक्ति है तथा उनके समान अधिकार है। शारीरिक क्षमता की दृष्टि से कदाचित् सामर्थ्य की समानता न हो, किन्तु यह भी पूर्व जन्म के पुरुषार्थ का ही फल है। पुरुषार्थ की न्यूनाधिकता से ही नारी और पुरुष की देह मिलती है। यह विधि विधान किसी अन्य का बनाया हुआ नहीं, स्वय अपनी ही आत्मा द्वारा निर्मित है। परन्तु जहा तक कर्तव्य पालन एव त्याग व्रत ग्रहण करने का प्रश्न है-नारी और पुरुष की योग्यताओ में कोई अन्तर नहीं है तथा उस योग्यता को विकास की चरम स्थिति तक पहुचाने की शक्ति मे भी दोना में कोई अन्तर नहीं है।

नारी जाति का पुरुषार्थ पुरुषो से कम नहीं होता, बल्कि इतिहास के कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें नारियों ने पुरुषों से भी अधिक पराक्रम का प्रदर्शन किया। इस बिन्दु पर मैं पुरुषो से कह सकता हू कि अगर वे महिलाओ के पुरुषार्थ से भी पिछड़ जाते हैं तो उनका पुरुष नाम निरर्थक बन जाता है। आज देखे तो महिलाए सर्वत्र पुरुषार्थ में रत दिखाई देती हैं और पुरुषों का नेतृत्व करने लगी हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी बहिनो ने जो सत्पुरुषार्थ चालू किया है, उससे वे अब पर्दे के पीछे ही बैठने वाली न रहकर सिहनियों की तरह गर्जना करने लग रही हैं। ये पुण्यवती सतिया जो बैठी हुई है, महावीर भगवान् के शासन को दिपाने का सत्पुरुषार्थ कर रही हैं।

मन का विकारों की मलिनता से निकाल कर यदि परम निर्मलता का उन्नत अनुभव करना है तो सद्विवेक के साथ सत्पुरुषार्थ सक्रिय बन जाना चाहिये जिससे आन्तरिक शक्तियों का प्राभाविक स्वरूप प्रकाश में आ सके और आत्मा स्वय को स्वतन्त्र व शुद्ध स्वरूप वाला बना सके।

5

विषमता और आध्यात्मिक समता

- समय-समय पर तीर्थंकरों, ऋषि-महर्षियो एव अवतारी पुरुषों ने अपने दिव्य-चिन्तन से विषमता से सफल सघर्ष कर ससार को आध्यात्मिक समता का मार्ग दिखलाया।
- विषमता का अन्त समता से सभव ।
- समता दर्शन को जीवन मे उतारने के लिये वीतराग प्रभु के समन्वय सिद्धात की जरूरत है ।
- आध्यात्मिक दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को सम भाव से देखना ही समता है ।
- समता दर्शन से ही विश्व मे एकता एव कल्याण सम्भव है ।
- समतामय जीवन दर्शन के क्रमिक विकास से आत्म दर्शन और परमात्म दर्शन की उपलब्धि सहज और सरल है ।
- विश्व की सम्पूर्ण समस्याओं का एक मात्र निदान समता दर्शन से ही सम्भव है ।
- सर्वतोमुखी जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की कला ही समता का मूल अग है ।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्तिनाथ परमात्मा के चरणो मे प्रार्थना के प्रसग से कुछ विनती की जा रही है और वह विनती शान्ति की प्राप्ति अभिलाषा से सम्बन्धित है। समग्र विश्व के प्राणी शान्ति के जिज्ञासु हैं। उन्हे शान्ति चाहिये-स्थायी और अबाध शान्ति और वे ऐसे स्थान पर पहुचना चाहते हैं जहा शान्ति का परम स्वरूप प्राप्त हो सके। शान्ति लाभ की यह विनती प्रार्थना के रूप में है, याचना के रूप मे नहीं। मे शान्ति चाहता हू और प्रभु मुझे शान्ति दे दे- इस दृष्टिकोण से निवेदन नहीं हैं। जिस वस्तु की याचना की जाती है और दूसरे से जो मिलता है, वह घनिष्ठ रूप से स्वय का नहीं बन सकता है- कारण, दिया हुआ तो दान या उधार होता है और इस रूप में ग्रहण करने वाला अपने पास उसे टिका भी नहीं पाता है-खो देता है। किन्तु जिसकी उत्पत्ति स्वय से हो, स्वय जिसका सर्जन करे और स्वय से जिसका आविर्भाव हो-उसका घनिष्ठ रूप से स्वय के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। शान्ति के सम्बन्ध में भी यही दृष्टिकोण समक्ष रखना चाहिये।

प्रत्येक आत्मा का मूल एव आन्तरिक स्वरूप विराट् होता है तथा शान्ति की परम निधि उसी अन्तर्चेतना मे निहित होती है। शान्ति को कहीं बाहर ढूढ़ने की जरूरत नहीं है, वह तो भीतर से जितने गहरे जायेगे, शान्ति का झरना अपने आप अन्तर मे फूटता ही जायगा। परमात्मा की प्रार्थना तो मगलाचरण के साथ है कि एक आदर्श सामने आ जाय, परन्तु उस आदर्श को व्यवहार का रूप देना अत्यन्त आवश्यक है। इससे इसी जीवन में शान्ति प्राप्त होगी। आज जो सोचा जाता है कि प्रार्थना आदि की प्रक्रियाए इस लोक से सम्बन्धित नहीं हैं, परलोक के लिये है तो ऐसा सोचना सही नही है। जो कुछ भी मानवीय धरातल पर आन्तरिक प्रबुद्धता के साथ चिन्तन होता है, वह सर्वप्रथम इसी जीवन के साथ लागू होता है। भावी जीवन का अवसर तो आगे आता हे और उसकी भी जड़ इसी जीवन में लगती है। इस जीवन में यदि शान्ति का प्रादुर्भाव कर लिया गया तो आपका और हमारा आगामी जीवन अवश्य ही शान्ति हेतु सुरक्षित हो जायगा।

शान्ति यद्यपि अदृश्य तत्त्व के साथ प्रार्थना के माध्यम से प्राप्त होती है परन्तु अदृश्य वह दृश्य है जो स्वय के अन्दर है और पर को भी वह उससे देख सकता है। शान्ति के इस पकार अन्दर और बाहर प्रसारित होने के लिये अनुकूल वायुमण्डल की अति आवश्यकता होती है।

अशान्ति की जननी-विषमता

आज इस विश्व मे जो कुछ भी देखने को मिल रहा हे, वह अधिकाशत शान्ति के स्वरूप के प्रतिकूल है। चारो ओर अशान्ति इस तरह व्याप्त हे कि शान्ति की अनुभूति कठिन बनी हुई है। शान्ति के बाधक तत्त्व सक्रिय है और जिधर देखे उधर अशान्ति की कारणभूत विषमता की ज्वालाए धू-धू करके जल रही है। इस विषमता का विरोध भी हे तथा इसे मिटाने के प्रयत्न भी चालू है। किन्तु इस दिशा मे सफलता कितनी मिल रही हे -इसके लिये बाह्य दृष्टि के साथ अन्तरावलोकन भी अनिवार्य है।

विषमता की ये ज्वालाए आज या कल से नहीं, प्राचीन काल से सुलग रही हे। आदिकाल से यह अवस्था है तभी तो समता का आदर्श उभर कर सामने आता रहा है और समय-समय पर तीर्थकरो, ऋषि-महर्षियो एव अवतारी पुरुषो ने अपने दिव्य चिन्तन से विषमता से सफल सघर्ष करने का ससार को मार्ग दिखाया है। उन दार्शनिक विचारो की देन अमूल्य है किन्तु विश्व उन्हे सम्हाल नहीं पाया है। कारण स्पष्ट है-मनुष्य ने महापुरुषो की देन को अपनी आन्तरिकता से एकमेक नहीं बनाई। उन दार्शनिक विचारो को यदि वह अपनी अन्तरानुभूति में रमा लेता तो आज विषमता का रूप इतना भयावह नहीं बनता। वह विषमता का अन्त ही कर डालता।

आधुनिक युग मे विषमता जितनी गहरी बनी हुई है, उतनी ही तीव्रता से शान्ति का स्वर गूज रहा है। समाज मे जो जिस अवस्था मे है, वह अन्तर्नाद के साथ महसूस कर रहा है कि उसे शान्ति की सास मिले। व्यक्ति ने अपनी शक्ति के अनुसार परिवार, समाज, राष्ट्र और विश्व मे शान्ति-प्रसार का यथाशक्य प्रयत्न किया है, परन्तु चिन्तन का विषय यही है कि ऐसे प्रयत्न सफल क्यो नही हुए-अब भी क्यो नहीं हो रहे है?

फल यदि समक्ष नहीं आ रहा है तो कारण पर दृष्टिपात करने की आवश्यकता है। यदि चिकित्सक के उपचार के बाद भी रोग बढता जाता है तो यही माना जायगा कि उसका निदान सही नहीं है। ऐसा ही आज के विषमता मिटाने के उपायो के बारे मे भी कहा जा सकता है। बाहरी दृश्यो मे विषमता देखी जा रही है, अशान्ति फैलती है और पदार्थों को इधर-उधर करने की चेष्टा की जाती है किन्तु विषमता की जड़े कहा है-इस दिशा मे सही चिन्तन नहीं हो रहा है।

विषमता की जडे कहां है

अन्तर्मुखी बनिये, तब प्रतीत होगा कि यह विषमता बाहर नही है- विषमता पहले भीतर में है। जब मनुष्य अपने मस्तिष्क की ग्रथियो का सम्यक् ज्ञानपूर्वक प्राकृतिक रूप से निराकरण नहीं कर पाता तो वे ग्रथिया विषमता के रूप मे जटिल बन जाती है। उन्हे फिर समता के सजन द्वारा ही खोला जा सकता है। विषमता का अन्त समता से ही सम्भव है । विषमता को नष्ट करना है तो सर्व प्रथम समता को अपनाना होगा। समता को यदि अखण्ड रूप देना है तो

समतादर्शन के साथ जीवन का सम्पर्क साधना होगा। इस साधना के लिये अन्तदृष्टि को जगानी पड़ेगी। चर्म-चक्षुओं की दृष्टि नहीं, यह अन्तदृष्टि ही यथार्थ स्वरूप देख पायगी जिसके प्रभाव से मस्तिष्क की उलझी हुई ग्रथिया खुल सकेगी। ग्रथिया खुल जाने से मन और मस्तिष्क साफ हो जायेंगे। इनके स्वच्छ धरातल पर तब समता-दर्शन का स्वरूप साकार बन सकेगा।

विषमता की जड़ें इस प्रकार मन और मस्तिष्क की उलझी ग्रथियो में उगती और पनपती हे, जिन्हें समता के माध्यम से ही नष्ट की जा सकती है। समता को लाने के लिये आज ससार को वीतराग के समन्वय सिद्धान्त की आवश्यकता है- समन्वय विचारों मे ओर समन्वय आचार मे। सापेक्षवाद की सहायता से विचारो में समन्वय लाकर सत्य की ओर गतिशील बन सकते हैं तो अहिसा के आधार पर आचार मे समन्चय लाया जा सकता हे। यह समन्वय जितना सर्वतोमुखी होता हुआ सबल बनता जायगा, समता का वातावरण भी उस रूप मे सशक्त होता जायगा, समतादर्शन इसी समन्वय के धरातल पर पुष्ट बन सकेगा।

समता की सामान्य व्याख्या

समता की परिभाषा गहनता के साथ अभी करने की नहीं है। सामान्य रूप से समता की यह व्याख्या की जा सकती है कि यथास्थान, यथायोग्य गुण और कर्म के साथ मानव-साम्य का मूल्याकन करना समता है जिसका विस्तार समस्त प्राणिवर्ग तक किया जायगा। समता का अर्थ है आत्मिक दृष्टि से प्रत्येक आत्मा को समभाव से निहारने का प्रयास करना। कहा भी है-

सव्व भूयप्प भूयस्स, सम्म भूयाइ पासओ ।
पिहिया सवस्स दतस्स, पाव कम्म न बधई।।

इस सृष्टि के अन्दर रहने वाली जितनी आत्माए हैं, उन सभी आत्माओं को अपनी स्वय की आत्मा के तुल्य समझना और जो स्वय के लिये वाछनीय है, उसे अन्य के लिये भी सुलभ बनाना- यह चिन्तन और व्यवहार का विषय बने। समतादर्शन की यही सामान्य व्याख्या है और उसका यही सक्षिप्त तात्पर्य हैं।

गीता में भी पडित की व्याख्या करते हुए कहा गया है-

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पडिता समदर्शिन ।।

अर्थात् सच्चा पडित वही हे जो समदर्शी होता हे। सभी प्राणियों मे सत्-चित् आर आनन्द रूप आत्म-तत्त्व रहा हुआ है, उसी आत्म-तत्त्व को यथास्थान देखने की कोशिश की जानी चाहिये। विद्वान गाय और श्वान के प्रति समदर्शी होने का यही अर्थ है कि वर्तमान पर्याय के साथ जो जिस रूप मे है, उसको उसी रूप मे समझा जाए परन्तु इसके मूल मे आत्म-शक्ति

की एकरूपता सदा ध्यान मे रखी जाए। इस धरातल पर चिन्तन किया जाए कि प्रत्येक आत्मा मे दिव्य स्वरूप छिपा हुआ है। वह किसके साथ विषमता का व्यवहार करे, कोन उसके सामने विषम व्यवहार करने के योग्य है -जब आत्मसाम्य की दृष्टि से कोई इन प्रश्नो पर विचार करेगा तो वह यही निर्णय लेगा कि दूसरे के साथ किया जाने वाला विषम व्यवहार उसके साथ नहीं लेकिन स्वय के साथ है। समतादर्शन की यही मूल अनुभूति होती है ओर जब यह जीवन के व्यवहार मे उतरती है तो मनुष्य के मन-मस्तिष्क का एव उसके साथ-साथ उसके आचरण का परिमार्जन होने लगता है। समतादर्शन के धरातल पर विचार, उच्चार और आचार पवित्रता के साचे मे ढलने लगेगे।

एकता समूचे मानव समाज की

आज व्याख्यान मे राजस्थान के वित्त एव योजना मत्री श्री चन्दनमल जी वैद आये है ओर उन्होने अपने भाषण मे जैन समाज की एकता का कुछ सकेत दिया-यह शुभ हे। परन्तु मै तो कहूगा कि जैन ही नहीं, समूचे मानव समाज की एकता की आज नितान्त आवश्यकता है। यह एकता एक अवस्थान से समतादर्शन की अनुभूति एव समतामय व्यवहार की कृति से बनाई जा सकती है। किन्तु ऐसी एकता बनेगी कैसे? जब प्रत्येक मानव अपने-अपने मस्तिष्क में उलझी हुई रूढ ग्रन्थियो को खोलकर पहले स्वय अपने आपको देखने की कोशिश करेगा कि वह अपने ही जीवन मे एक है या अनेक है और अनेकता को मिटाते हुए स्वय एक बनने लगेगा तो दूसरे लोगो और सारे वातावरण को भी एकता मे ढाल सकेगा। यदि स्वय मे एक है तो समतादर्शन का रूपक समतामय व्यवहार के साथ उसके जीवन से सम्बन्धित हो जायगा। और स्वय मे यदि एक नहीं है-अपने व्यक्तित्व के उसने कई टुकड़े बना रखे है तो वह वहा विषमता का द्योतन है। आज इन टुकड़ो को जोड़ने की आवश्यकता है।

अनेकता मे एकता को खोजने का अभिप्राय यह होगा कि एक समान धरातल का निर्माण किया जाय। यह नहीं हो कि जमीन ऊची नीची हो- कहीं कूड़ा-कर्कट और कहीं सफाई हो और वैसी ही जमीन पर सारे जन-समुदाय को एक साथ बैठने के लिये कहे तो वह समुचित नहीं होगा। उसमे सभा का भव्य रूप भी नहीं दिखाई देगा। यदि सबको साथ बिठाना है तो जमीन के ऊच-नीचपने और फर्क को मिटा कर उसे एक से मैदान के रूप मे बदलने की जरूरत, होगी। तभी उस सभा की वहा भव्य रचना हो सकती है।

जीवन मे समानता की स्थितियां

इस बाह्य अवस्था की तरह ही अन्तर्जीवन की एकता का धरातल सम-रूप मे तैयार करना होगा। वह धरातल ऐसा हो जिस पर खड़े होने के बाद मनुष्य अपने मन-मस्तिष्क मे फैल रही विषमता की ज्वालाओ को समतादर्शन के व्यवहार रूप शीतल जल से शान्त कर सके। तभी वैयक्तिक और सामाजिक जीवन मे समानता की स्थितिया जन्म ले सकेगी। इस धरातलनिर्माण के कार्य मे किसी व्यक्ति, जाति या दल विशेष का कोई प्रश्न नहीं उठना चाहिये।

यह कार्य समूचे मानव समाज का सामूहिक कार्य माना जाना चाहिये।

धरातल-निर्माण का यह कार्य है समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक रूपों के आधार पर समस्त मानवों मे समान आत्मीय भावना का दर्शन करना। इस धरातल को तैयार करने मे मैंने २१ सूत्रीय योजना बनाई है जिसका उल्लेख अभी ही प्रकाशित समता दर्शन और व्यवहार नामक ग्रन्थ मे विस्तार से किया गया है। इस योजना पर व्यवहार के साथ उसमे तीन चरणों का भी उल्लेख किया गया है। समता दर्शन को व्यवहार में उतारने का जो आस्थावान समर्थक है, वह पहले चरण में समतावादी कहलायगा। वह समता दर्शन के ऊपर अपने मस्तिष्क की समस्त ग्रन्थियो को खोल कर दृढ विश्वास करे और तदनुसार दूसरे चरण में समताधारी समता के सम्पूर्ण व्यवहार को अपने जीवन मे क्रियान्वित करना आरम्भ करे। ऐसा समताधारी समता को अपने विचार और आचार मे रमा लेता है तो वैसा ही सर्वत्र देखने की उत्कट अभिलाषा भी बना लेता हे। जीवन में समानता की स्थितियों के निर्माण के साथ तीसरे चरण में वह समता-दर्शी का भव्य स्वरूप ग्रहण कर लेता है।

जीवन मे जब समता यो रम जाय तो फिर उस व्यक्ति को अपने परिवार, समाज, राष्ट्र ओर विश्व मे विषमता के दर्शन नहीं होगे क्योकि वह समतादर्शी के नाते अपने जीवन के अनुरूप समता को सर्वत्र सर्वव्यापी बनाना चाहेगा।

गुण और कर्म की दृष्टि से वर्गीकरण

आज मानव जाति विषमता भरे जिन टुकड़ो मे बटी हुई है, वे अधिकाधिक विषमता की सृष्टि कर रहे हैं। मानव में विकास की तारतम्यता की दृष्टि से गुण और कर्म के आधार पर वर्गीकरण किया जा सकता है और यह वर्गीकरण समता के धरातल पर होने से विकास का प्रेरक बन जायगा। मैं तो यह सोच रहा हू, बल्कि स्वप्न सा ही देख रहा हू-चाहे उसे दिवास्वप्न ही कहिये कि सामाजिक धरातल पर जितने भी भेद हैं, राष्ट्रीय स्तर पर जितने भी अलगाव हें और विश्व की भूमिका पर विकास की जितनी भी बाधाए हैं, उन सबको समता के तीन चरणों में समाप्त कर सकते हैं।

यह गुण और कर्म की दृष्टि से वर्गीकरण होगा कि पहले समतादर्शन के धरातल पर समतावादी के वर्ग की रचना हो। समतावादी अपनी कर्तत्व शक्ति से समताधारी के वर्ग में पहुचे और समताधारी अपनी सम-दृष्टि, सम-भाव एव सम-कृति से समतादर्शी के सम-स्वरूप को ग्रहण करे। इस निर्माण का यदि प्रत्येक मनुष्य के साथ योग जुड़ता है तो कोई कारण नहीं कि वर्तमान विषमता का अन्त नहीं आ सके। जितने भी प्रयत्न इस दिशा में किये गये अथवा किये जाते हैं, उनमें इस आत्मावलोकन की आवश्यकता हे कि उनकी कमियों को भली-भाति देखे ओर आगे के प्रयत्नो मे उन कमियो को टालकर चले तो सफलता क्यो नहीं प्राप्त होगी? इन कमियों को टालने का ही अर्थ होगा कि आज के सारे अस्वाभाविक वर्गीकरणों को हटा कर मानव समाज मे मात्र गुण एव कर्म की दृष्टि से उत्साहप्रद वर्गीकरणों

की मान्यता की जाय।

इसके लिये अन्तरावलोकन की आवश्यकता होगी ओर खोजना पड़ेगा कि विषमता की जड़े भीतर क्यो पनप रही है तथा कहा तक फल रही है? भीतर की जड़े ही तो अकुरो, पौधो और वृक्षो के रूप मे बाहर दिखाई दे रही है। भीतर मे मानव-मन मे भौतिक सत्ता ओर सम्पत्ति की लालसा जम गई है तो वही विषमता की ज्वालाओ के रूप मे वाहर के कार्यो मे फूटती है। चाहे ऐसी लालसा किसी व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क मे हो, या किसी दल की सामूहिक भावना मे अथवा अन्यथा हो, परन्तु आजकल जिस प्रकार की मनोवृत्तिया दृष्टिगत हो रही हैं, उनमे भौतिक सत्ता और सम्पत्ति अपने ही लिये पा लेने की यह लालसा उग्र रूप से प्रतिभासित होती है। इन्सान यह समझता है कि जीवन मे यदि कोई सर्वोपरि लक्ष्य है तो वह इस भौतिक सत्ता और सम्पत्ति को प्राप्त करना है। यह भौतिक सत्ता और सम्पत्ति ही सब कुछ है तथा इसे प्राप्त करने के लिये अमूल्य मानव जीवन को होमा जा सकता है-चाहे इसके पीछे खून की नदिया बहानी पड़े अथवा दमन और शोषण का कुटिल चक्र चलाना पड़े। यह विचार-यह दृष्टिकोण तब तक बना रहेगा जब तक मानव समाज मे गुण एव कर्म के आधार पर स्वस्थ वर्गीकरण नहीं किया जायगा।

बाहरी विषमता भी भूल मे भूल से

ऐसे सत्ता-सम्पत्ति लिप्सु दृष्टिकोण के रहते सम्पूर्ण विश्व मे समता का समरस स्वर गूज नहीं सकेगा और मैं तो यही सोच रहा हू कि मूल मे ही भूल है। यह बाहरी विषमता भी उसी का फल है। इसका सुधार करने के लिये विकासोन्मुख लक्ष्य को समक्ष रखते हुए समतामय चिन्तन एव तदनुरूप कर्त्तव्य परायणता का विस्तार होना चाहिये। यह लक्ष्य जब स्थिर होगा तो व्यक्ति के चहुमुखी प्रयास प्रारम्भ हो जायगे। वह सम-भाव से अपने जीवन को सवारेगा तो सम-दृष्टि बनकर परिवार को समता के साचे मे ढालेगा। परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र के विस्तृत क्षेत्रो मे जब समता का आचरणगत प्रयोग किया जायगा तो फिर विषमता न भीतर बचेगी और न बाहर दिखाई देगी। समता की वही शक्ति तब विश्व मे शान्ति के निर्मल प्रवाह के रूप में प्रवाहित होने लगेगी क्योकि समता ही शान्ति की सची सहचरी होती है।

समता और शान्ति लाने के प्रयत्नो मे कौन, कितना, क्या करे, किस स्थान पर कौन पहुचे तथा कौन से धरातल पर क्या सोचा और किया जाय-इनके समाधान के लिये व्यक्ति और समाज दोनो को एक साथ यत्नशील होने की आवश्यकता है। व्यक्ति और विश्व एक ही क्रम के दो छोर हैं। व्यक्ति के जीवन से प्रारम्भ हुई समता विश्व शान्ति के रूप मे विकसित होती है। आप जानते है कि व्यक्ति का सम्बन्ध परिवार से, परिवार का समाज से, समाज का राष्ट्र से और राष्ट्र का सम्बन्ध समूचे विश्व से होता है। एक दूसरे की कड़िया एक दूसरे की कड़ियो से जूड़ी हुई होती हैं। कोई व्यक्ति यह सोचे कि मेरी कड़िया सर्वथा पृथक् है तो

उसका यह सोचना भूल भरा होगा। स्वार्थान्ध व्यक्ति इन पारस्परिक सम्बन्धों को न आक सके यह दूसरी बात है, किन्तु जब स्वार्थ की पीली नजर हटे तब साफ दिखाई देगा कि इन्हीं पारस्परिक सम्बन्धो के स्वस्थ निर्वाह मे व्यक्ति से लेकर विश्व का विकास रहा हुआ है।

भगवान् महावीर ने एक ओर जहा श्रुत और चारित्र्य धर्म के रूप मे आध्यात्मिकता का मार्गदर्शन किया है तो दूसरी ओर उससे भी पहले ग्राम-धर्म, नगर-धर्म, राष्ट्र-धर्म, सघ-धर्म, गण-धर्म आदि के रूप मे मनुष्य के विविध कर्त्तव्यो का निर्धारण किया। इसका अभिप्राय यही है कि मनुष्य मूल की भूल को निकाले और भीतर से लेकर बाहर तक विषमता का अन्त करके सम्पूर्ण विश्व के साथ समता के समन्वयात्मक सम्बन्ध स्थापित करे।

आध्यात्मिकता सर्वत्र समता की वाहिका

कोई आध्यात्मिक दृष्टि से साधक है तो उसका यह तात्पर्य नहीं कि वह विभिन्न क्षेत्रो मे समता का प्रसार करने से उपेक्षित बन जाय। आध्यात्मिक साधना भी मानव समाज के बीच रहते हुए ही सफलतापूर्वक सम्पन्न की जा सकेगी। यह ठीक है कि आध्यात्मिक साधक की मर्यादाए जीवन को विशेष रूप से माजने की दृष्टि से निर्धारित हैं, परन्तु अन्य स्थितियो के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं है-ऐसा सोचना भी उपयुक्त नहीं है। जहा राजनीति का प्रश्न है तो राजनीति की स्थिति राजनीति के धरातल पर है, उसमे कूटनीति उपयुक्त नहीं है। स्वस्थ एव समतापूर्ण राजनीति की व्याख्या का प्रसार एक आध्यात्मिक साधक प्रतिदिन कर सकता है। यहा मैं तो सकेत मात्र देना चाहता हू कि सर्वत्र समता के प्रसार के लिये योजनाबद्ध रीति से कार्य होना चाहिये। मेरा कोई आग्रह नही है कि यह योजना कैसी हो ? मैं तो वस्तु स्थिति के साथ कथन करने की सोचता हू और सत्य के साथ लगाव रखना चाहता हू । सत्य त्रिकाल अबाधित है ओर मेरा चिन्तन रहता है कि सत्य मेरा हैं, मैं सत्य का हू। मैं जब तक साधना मे चलू , ईमानदारी से चलना है तथा अन्य मानवों के साथ यथायोग्य कथन करने का प्रसग रहता है क्योकि मेरा मानना है कि आध्यात्मिकता सर्वत्र समता की वाहिका के रूप मे सचारित होनी चाहिये।

एकता, समता और शाति की योजना

एकता की भूमिका क्या हो? क्या वह समता पर आधारित हो? और यदि समतादर्शन की भूमिका पर एकता को आधार देना है तो उसे मानव मात्र के लिये हितावह बनानी होगी। मानव का वर्गीकरण उनके जन्म व जाति के आधार पर नहीं होकर उनके कर्म ओर गुण के आधार पर होगा। वर्तमान में बनी हुई भेद-भाव की दीवारे हटानी होगी, मानवता को खण्ड-खण्ड करने वाले विचार चाहे वे सम्प्रदाय की आड़ मे हो, चाहे समाज के नाम से हो या राष्ट्र की ओट मे हो उन्हे बदलना होगा। राजनैतिक, सामाजिक आदि विषमता जन्य मूल्या को हटा कर मानवीय एव आत्मीय मूल्यो की स्थापना करनी होगी। लक्ष्यो की एक रूपता के साथ आप घड़ी को देखते हैं-काटे घूम रहे हैं एक से बारह तक। क्या सभी अको की शक्ल

और मूल्य मे भिन्नता नहीं है? सब अको के विभिन्न होने पर भी यथास्थान इनके कार्य मे समता है। दूसरी ओर काटे भी क्या एक ही अक के साथ चिपक रहे है या अपनी अपनी गति से चलते हुए यथासमय प्रत्येक अक के पास समभावपूर्वक पहुच कर ठीक समय बतलाते रहते है? दोनो काटो मे एक भी यदि अपनी गति मे विषम बन जाय या बाहरी काटे भीतरी यन्त्रो के साथ समता रख कर नहीं चले तो क्या घड़ी ठीक समय बतलावेगी? अको के मूल्य मे भिन्नता होते हुए भी उनके कार्य मे समता है। दोनो काटो का एक ही अक से पक्षपात त्याग कर सभी अको के साथ समता का व्यवहार है। दोनो काटे आपस मे समगति से चलते है। घड़ी के भीतरी यत्र भी सही है और उसमे भीतरी और बाहरी एकरूपता भी है। एकता, समता और शान्ति की योजना का रूपक घड़ी से सीखा जा सकता है।

घड़ी के अको, काटो और भीतरी यन्त्रो के समान ही यदि मानव समाज मे समभाव और समता व्यवहार का विस्तार हो तो समता शाति और मानव मात्र की एकता के प्रत्यक्ष दर्शन दूर नहीं रहेंगे। अको के मूल्य की तरह ही मानव का उनके कर्म और गुणो के आधार पर मूल्याकन एव वर्गीकरण करना होगा। जिस प्रकार काटे, बिना किसी भेद के, सभी अको के पास स्वाभाविक गति और समभाव से पहुचते रहते है उसी प्रकार मानव का एक स्थान या दल या अनुशासनहीन समूह विशेष से पक्षपातपूर्ण लगाव न रह कर, सभी के साथ समतामय अनुशासन और व्यवहार की स्थापना करनी होगी और जिस प्रकार घड़ी के बाहर और भीतर की एकरूपता हे उसी प्रकार मानव के बाहरी कथन और कार्यों के साथ उसके अन्तर मन की एकरूपता भी आवश्यक है।

आप सोचिये कि घड़ी के इन अकों और काटों का सम्बन्ध किनसे है? निश्चय ही इनका सम्बन्ध भीतरी यत्रो से है। घड़ी के भीतरी यत्रो के दरातेदार पहिये अगर समता से एक दूसरे मे रम-मिलकर चलते रहते हैं तो कहीं कोई व्यवधान नहीं आता है और सही समय प्रदर्शित होता रहता हे। किन्तु अगर वे पहिये विषम बनकर आपस मे टकरा जाय, उनकी गति अवरुद्ध हो जाय और बाहरी काटो को घुमाने का कितना ही प्रयास किया जाय तो क्या घड़ी चल सकेगी? ये बाहर के काटे स्वत नहीं घूमते है-भीतर के यत्र इन्हे घुमाते है। इसी तरह इन्सान के जीवन मे सच्चे विकास के लिये भीतरी और बाहरी एकरूपता आवश्यक है-समता की समरसता अनिवार्य हे जो समभाव एव सम-व्यवस्था के चक्रो पर गतिशील एव प्रगतिशील बनती हे।

प्रकाश आता हे तो अन्धकार नहीं टिक सकता है। प्रकाश के अभाव में ही अन्धकार की कालिमा स्थित रहती हे। विषमता तभी तक हे जब तक समता का उदय नही होता। प्रकाश की एक किरण जैसे गहन अन्धकार को भेद देती हे, वैसे समता की दिशा मे गति का आरम्भ ही विषमता को हिला देगा। इसी दृष्टिकोण से जो कुछ भी समतादर्शन एव व्यवहार की कुछ बाते मै कर्त्तव्य-दृष्टि से समय-समय पर रखता हू, मेरा आग्रह हे कि उन्हे प्रत्येक व्यक्ति अपने मस्तिष्क एव हृदय की कसौटी पर कसे और पाच व पाच-दस के तरीके से सोचे।

सर्व-त्याग की साधना

समता के दार्शनिक एव व्यावहारिक नियमो पर गहन एव व्यापक दृष्टि से चिन्तन किया जायगा तो मेरा विचार है कि वैयक्तिक एव सामाजिक जीवन को समता का सुदृढ आधार प्राप्त हो जायगा। समतामय जीवन-दर्शन के क्रमिक विकास के रूप मे आत्म-दर्शन एव परमात्म दर्शन की उपलब्धि भी सहज बन सकेगी।

सारी समस्याओ का निदान-समता

समतादर्शन से सम्बन्धित २१ सूत्री योजना एव समतावादी, समताधारी तथा समतादर्शी की अवस्थाए जब मानव समुदाय के बीच मे प्रतिफलित होने लगे तो अन्तर्शक्ति आत्म-बल एव आत्म-विश्वास के रूप में प्रकटित होने लगेगी। किन्तु जब तक ऐसी मनोदशा नहीं बनती है तब तक जीवन-नौका विषमता की मझधार मे ही डोलती रहेगी। आज प्रत्येक मानव को अपने जीवन में समता को यथास्थिति स्थान देने की आवश्यकता है क्योकि व्यक्ति ही नहीं, विश्व की सारी समस्याओ का निदान समता है। यह सत्य में जिस कसौटी से कह रहा हू, वह कसौटी आत्मीय समता की भावना है। मै अपने लिये जैसा सोच रहा हू, वैसा ही दूसरों के लिये सोच रहा हू। प्रत्येक व्यक्ति यदि अपने जीवन की सही स्थिति देखना चाहे तो वह उसी रूप को बाहर दिखावे जिस रूप मे वह भीतर है। यहा एकरूपता जीवन को समता से जोड़ती है।

आज भारत देश मे और समूचे विश्व मे जिस प्रकार विविध समस्याओं का जाल बिछा हुआ है और उनसे सुलझने का मार्ग नहीं मिलता है तो उनसे उबरने के लिये अनुसन्धान किया जाना चाहिये और वह अनुसन्धान विविध दृष्टिकोणो के होते हुए भी यदि समतादर्शन के एक मच पर किया जाय और तदनुसार व्यवहार के क्षेत्र में समता-दर्शन को आत्मसात् कर लिया जाय तो निश्चय मानिये कि कहीं भी कोई समस्या बच नहीं रहेगी। कोई भी समस्या विषमता की ही उपज होती है और समता से ही उसका निदान किया जा सकता है।

शान्ति की सहचरी-समता

प्रत्येक प्राणी की मूल जिज्ञासा है शान्ति और शान्ति ही समूचे विश्व का लक्ष्य है। शान्ति को प्राप्त करना है तो उसकी सहचरी समता को अपने विचार और आचार में समाविष्ट कर लेनी चाहिये। पार्थना के माध्यम से परमात्मा के चरणो मे जो इस रूप के साथ शान्ति की साधना करने का प्रयास करते हैं, वे एक दिन उस आदर्श को अपने अन्तर्जीवन में समा कर स्वय परमात्म-स्वरूप का वरण कर लेते हैं।

विचार मे सापेक्षवाद एव आचार में अहिसा के शुद्ध प्रणिधान के साथ समतादर्शन एव सम-व्यवहार के अकुरो का सिचन किया जा सकता है। अहिसामय आचरण के सम्बन्ध मे भी विशेष प्रयास किये जाने चाहिये और पशु-बलि निषेध विधेयक को पारित कराने या

अन्य प्रकार से विविध उपायो को कार्यान्वित करने की ओर मै राजस्थान-मत्री वैद जी का ही नहीं, सभी का ध्यान खींचता हू। सर्वतोमुखी जीवन को सुव्यवस्थित बनाने की कला ही समता का मूल अग है। ममत्त्व से समत्त्व की ओर अग्रसर बनना है-यही जीवन का सूत्र है। मानव इसी सूत्र को पकड़ कर शान्ति एव सत्य के महान् रहस्यो की खोज करे-यही मेरी शुभ-कामना है।

गगाशहर-भीनासर

दि० २-१२-७३

6

मानसिक गन्दगी और त्याग-तप

* परमात्मा को नमन करने से स्थायी शाति का मार्ग प्राप्त हो सकती है ।
* आध्यात्मिक निधि की प्राप्ति के लिये विवेकशील आत्मा का प्रयोजन व प्रयास पक्का और पुष्ट होना चाहिये ।
* मन के मैल को साफ करें, जिससे निर्मलता के वातावरण में आत्मा के दर्शन हो जावे ।
* मन की स्वच्छता के धरातल पर ही समता का प्रवेश होता है ।
* सामाजिक धरातल पर आडम्बर और धन प्रदर्शन को रोके जिससे विषमता का नग्न प्रदर्शन न हो ।

मानसिक गन्दगी और त्याग-तप

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

इस विश्व मे प्राणियो के जो विभिन्न कार्य-कलाप दिखाई देते हैं, वे अपनी-अपनी रुचि के अनुसार हैं। जितनी जीवात्माए हैं, वे अलग-अलग तरीकों से अपने-अपने कार्यो में दत्तचित्त होने की सोचती हैं। जीवात्माओं मे मानव का स्थान महत्त्वपूर्ण है तथा उसका विशिष्ट कारण यह है कि मनुष्य जीवन मे वह अपनी महत्त्वाकाक्षाओ के अनुसार उच्चतम सिद्धिया प्राप्त कर सकता है। जिधर भी वह गति करना चाहे, कर सकता हे, जैसा बनना चाहे, बन सकता है तथा जेसे कर्मो का बन्धन चाहे, वेसे कर्म बाध सकता है। जैसी प्रतिष्ठा ओर प्रगति सम्पादित करने की उसकी भावना बने, उसके अनुरूप वह अपने जीवन की वृत्तियो एव प्रवृत्तियों को ढाल सकता है। मनुष्य के मन और मस्तिष्क मे जैसी अभिलाषा बनती ह, तदनुसार वह कार्यरत बनता हे।

किन्तु इन सबके पीछे मनुष्य का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता हे। बिना प्रयोजन के आत्मा की कोई भी प्रवृत्ति नहीं होती । मनुष्य का जीवन मे जो भी व्यवहार दिखाई देता हे, वह एक या दूसरे प्रयोजन से प्रेरित होता है। इसीलिये ज्ञानीजन कहते हैं कि

प्रयोजनेन बिना मदोऽपि न प्रवर्तते।

अर्थात् अल्पतम शक्ति वाला प्राणी भी बिना पयोजन के जरा-सा भी हलन-चलन नहीं करता है। शास्त्रकारों ने भी जब शास्त्र का दृष्टिकोण प्रस्तुत किया तो उन्होंने शास्त्र के कथन का पयोजन, उनके सम्बन्ध एव फल आदि बातो का सकेत पहले दिया। शास्त्र किस लिये हैं, शास्त्रीय वचन किस उद्देश्य से कहे गये हैं-जब इनका प्रयोजन श्रोता समझ लेते हें, तभी वे उन वचनो का अपनी आत्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ कर आध्यात्मिक विज्ञान का कुशलतापूर्वक अनुसन्धान कर सकते हैं। तब उन शास्त्रीय वचनो के अनुसार वे प्रवृत्ति करते है तथा ज्ञान एव क्रिया का अपने जीवन मे सुन्दर मेल बिठाते हें।

शास्त्रीय वचनों का प्रयोजन

शास्त्र के दृष्टिकोण हैं, विषय नहीं हैं। शास्त्रीय वचन महत्त्वपूर्ण एव अमूल्य दृष्टिकोण लिये हुए हैं। जब एक साधारण व्यक्ति भी अपने मुह स कोई वचन निकालता हे तथा उसका पचार करता ह ता उसके पीछे भी एक पयोजन होता हे। चाह वह प्रयोजन अधिक महत्त्व का हो कम महत्व का हो अथवा महत्वहीन हो-किन्तु बिना प्रयोजन के कोई भी शब्द नहीं निकलता है। एक शब्द के उच्चारण का ही पश्न नहीं हे मनुष्य की समस्त क्रियाए-प्रक्रियाए भी बिना

प्रयोजन के नहीं होती। एक व्यक्ति किसी भी तरफ देखता है तो उसका यह प्रयोजन होता है कि सामने वाले की क्या विशिष्टता है किसी को सुनता है तो इस प्रयोजन से कि उसकी बात उसके लिये कितनी हितकर है ? उसका प्रयोजन सार्थक लगता है तो वह स्थिर चित्त होकर उस बात को सुनता है। किसी के दर्शन और श्रवण के लिये वह अपनी गति को भी उस ओर मोड़ता है। उसकी प्रत्येक क्रिया प्रयोजनपूर्ण होती है।

मनुष्य की ही नहीं, प्रत्येक पशु-पक्षी एव कीट-कीटाणु की गति भी प्रयोजनपूर्ण होती है। वे भी अपने प्रयोजन के अनुरूप हलन-चलन करते है। उनका विचार-उच्चार मनुष्यो के तरीको के अनुसार नहीं होता, परन्तु यथायोग्य सोचने की शक्ति तो उनमे भी होती है। चाहे छोटे से छोटा रेगने वाला कीड़ा भी क्यो न हो, वह भी तत्क्षण तात्कालिक सज्ञा की पूर्ति के लिये इधर से उधर परिभ्रमण करता है। गर्मी लगती है तो वह छाया मे सरकता है और छाया से धूप मे जाता है। वह चखने योग्य पदार्थों की तलाश मे घूमता है। यह भी उसका स्वनिर्वाह एव स्वरक्षा का प्रयोजन होता है।

इसी पकार तुच्छ से लेकर महत्त्व के प्रयोजनो को अपनी कृति मे उतारने की शक्ति प्रत्येक मानव के मन और मस्तिष्क मे रही हुई है। उसकी वह फल-श्रुति भी देखना चाहता है। जहा साधारण मनुष्यो का प्रसग है, वे भी जब आध्यात्मिक जीवन की शक्ति का प्रयोजनपूर्ण सकल्प लेते है तो वे भी आन्तरिक शान्ति की खोज मे निरत बन सकते है। शास्त्रीय वचनो का यही प्रयोजन है कि साधारण से साधारण मनुष्य भी यदि उच्चतम प्रयोजन को धारण करके गति करे तो वह सर्वोच्च आत्मिक विकास को साध सकता है।

शान्ति-लाभ की जिज्ञासा

शान्ति की खोज मे भी मनुष्य मुख्य प्रयोजन को देखकर ही चलेगा। मैं सोचता हू कि यह शान्ति की जाति का निर्माण प्रत्येक मनुष्य के लिये सुखदायक होगा। कोई भी आत्मा ससार की कृत्रिम जातियो की दृष्टि से किसी भी जाति से पहिचानी जाती हो, किन्तु मूल मे तो मनुष्य जाति है। कर्मभूमि के आरम्भ के पहले सभी एक जाति के ही मनुष्य थे और मनुष्यो की अपनी एक ही जाति कहलाती थी-चाहे वह आदिम जाति ही क्यो न हो? कर्मभूमि बनने के पश्चात् जब अलग-अलग लोग अलग-अलग तरह के काम करने लगे तो उनके अनुसार विभिन्न जातिया बनने लगीं और धीरे-धीरे इन जातियो का कृत्रिम रूप इस तरह ढलने लगा कि समय-समय पर इनमे सघर्ष भी छिड़ते रहे। परिणामस्वरूप मानव जाति मे अशान्ति का वातावरण छाने लगा।

इस अशान्ति की काली छाया का कुप्रभाव प्रौढ व्यक्तियो तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि छोटे-छोटे अबोध बालक भी उस कुप्रभाव से अछूते नहीं रहे। विद्यालय मे पढने वाले सभी छात्रो का एक ही उद्देश्य होता है कि वे समान भाव से शिक्षा ग्रहण करे तथा परीक्षाओ मे उत्तीर्ण हो, किन्तु वहा भी जातिगत विचारो से कई बार सघर्ष हो जाते हैं। इस प्रकार की

अशान्ति के तनावपूर्ण वातावरण में तटस्थ भावना रखने वाले प्रौढों एव छात्रो मे शान्ति-लाभ की एक स्वाभाविक जिज्ञासा जन्म लेती है।

शान्ति-लाभ की जिज्ञासा की पूर्ति के लिये तव उनके सामने शान्ति का मार्ग नहीं होता है। वे कृत्रिम शान्ति को शान्ति समझ कर चल पड़ते हैं, किन्तु वह कृत्रिम शान्ति स्थायी शान्ति का रूप नहीं ले सकती है। दो क्षण की शान्ति और फिर अशान्ति उनके सामने खड़ी हो जाती हे। वरसात के दिनों में तेज गर्मी हो और उस समय वादल का एक छोटा-सा टुकड़ा उस तपते हुए सूर्य के सामने आ जाय तथा उस थोड़ी देर की छाया से मनुष्य को जेसी क्षणिक शान्ति मिलती हे, वेसी ही क्षणिक शान्ति से व्यक्ति एव समाज के स्वस्थ जीवन का निर्माण नहीं हो सकता हे। कुछ क्षणों वाद उस वादल के हटते ही सूर्य की तपती हुई किरणें फिर वही गर्मी पेदा कर देती है। अत शान्ति लाभ की जिज्ञासा वालो को स्थायी शान्ति का मार्ग ढूढना चाहिये।

प्रयोजन स्थायी शांति का

वस्तुत जिनके मन-मस्तिष्क में स्थायी शान्ति की उपलब्धि की भावना तीव्र वनती है, तव वे स्थायी शान्ति का प्रयोजन निश्चित करते हैं एव प्रारम्भ से वेसी स्थायी शान्ति की खोज मे गति करने का यत्न करते हैं। जव उन्हें शान्ति के स्थायी स्वरूप के दर्शन होते हें तो सहसा उनका परमात्म नमन एव स्वात्म नमन का प्रयोजन भी सार्थक वन जाता हे। इस प्रार्थना के माध्यम से परमात्मा को नमन करने का भी प्रयोजन यही हे कि मैं परमात्मा को नमन करू तो मुझे स्थायी शान्ति प्राप्त हो। और यह सत्य हे कि परमात्मा को नमन करने से स्थायी शान्ति लाभ का मार्ग मिल सकता हे। परमात्मा उसके लिये निमित्त वन सकते हें।

स्थायी शान्ति हेतु प्रयोजन वनाने वाले व्यक्ति को यह सोचना चाहिये कि जैसे प्रभु की शान्ति को आदर्श मानकर में उनको नमन कर रहा हू तो क्यो नहीं उसी आदर्श शान्ति को मैं अपने प्रत्येक विचार उचार एव व्यवहार मे रमा कर अपनी आत्मा की शान्ति को भी प्रभु की शान्ति के तुल्य वना लू? इस पकार जव प्रयोजन सकल्प की दृढता के साथ सुदृढ जिज्ञासा वन जाती है तव वह व्यक्ति उस जिज्ञासा को अपने कठिन पुरुषार्थ स कार्य रूप में परिणत करता है। वह पहले पभु के चरणो में नमन करता हे किन्तु पभु क चरणों से आदर्श की प्रेरणा लेकर एव सिद्धि को सुलभ वनाकर वाद मे वह अपने ही आत्म-स्वरूप के चरणो में नमन करने लग जाता है। ऐसी आदर्श अवस्था ही पत्येक मनुष्य का पवित्र लक्ष्य वने तव उसकी आत्मा को अति आश्चर्य की स्थिति प्राप्त होती ह तथा वह इस पार्थना की पक्तियो के स्वर मे वोल उठता ह कि-

अहो अहो ! हु मुझने कहु

नमो मुझ नमो मुझ

मुझे अमित फल दातार रह दो

अहो, अहो! मै मुझको कहता हू, मै मुझको नमन कहता हू-इस अनुभूति मे भी प्रयोजन निहित है। और यह प्रयोजन स्थायी शान्ति का है।

अमित फल-दातार कौन?

मैं स्वय को कहता हू, मै स्वय को नमस्कार करता हू, किन्तु ऐसा किसलिये करता हू? एक दान के दातार से भेट हुई-इसलिये करता हू। वह भेट मुझे हुई, इस कारण मैं अपने आपको नमस्कार करता हू। पर यह दातार कोन है, कैसा हे? दान भी वह दे रहा हे, लेकिन कौनसा दान दे रहा है? प्रार्थना मे कहा है कि वह दान अमित फल का हे। अमित फल वह-जिस फल की कोई सीमा नहीं। अधिकाश फल तो सीमा वाला होता है। जैसे भौतिक सम्पत्ति, वैभव आदि है तो वह कितना ही अधिक हो, किन्तु अमित नही होता-उसकी सीमा होती हे। व्यापार मे पुरुषार्थ किया और सम्पत्ति मिली तो उसकी गिनती होती है-लाख, करोड़, अरब, खरब और उससे ऊपर सुमेरू पर्वत की उपमा दे सकते हैं। जितनी भी ससार के पदार्थों की स्थिति है, वह सारी की सारी सीमायुक्त है। जितने भी पदार्थ आपको दृष्टिगत हो रहे हैं, वे सीमा से बाहर नहीं हैं ।

भौतिकता मे अमितता नहीं होती। अमित तो होती है आत्मा की आन्तरिक शक्ति और अमित ही होता है उसके प्रयोग का फल। अत अमित फल तो वहीं से उपलब्ध होगा जहा अमित-सीमा रहित अनन्त शक्ति भरी हुई है। अमित फल से युक्त इस कारण परमात्मा होते है। परमात्मा के पास जो शान्ति है, उस शान्ति की इति नहीं है। उस शान्ति को आप वचन या लेखनी से प्रकट नहीं कर सकते हैं और न ही किसी नाप से नाप सकते है। उसकी गणना भी नहीं होती, वह तो अपार होती है। जैसी परमात्मा की अपार शक्ति प्रकट होती है, वैसी ही अप्रकट अपार शक्ति इस आत्मा मे भी होती है।

अत अमित शक्ति जिसमे होती है तो अमित फल दान की शक्ति भी उसी मे होती है। अमित फल दातार, इस कारण और कोई नहीं, बल्कि अपनी स्वय की आत्मा ही है। इस आत्मा मे जब ऐसी शक्ति है तो उसको देने वाला भी वह आत्मा ही है। आत्मा की शक्ति को देने वाला परमात्मा नहीं है। अन्य कोई भी नहीं है जो इस आत्मा को शक्ति दे। परमात्मा का आदर्श यह प्रेरणा जरूर देता है कि हे मानव, तू अपने आपको छोटा, हीन और दरिद्री मत मान, तेरे भीतर अमित फल वाली शक्ति भरी हुई है- सम्पूर्ण निधि है उसकी, उसको ढूढ ले, फिर देख कि आनन्द और शान्ति की कैसी अजस्त्र धारा उससे प्रवाहित होती है?

निधि के प्रयोजन से प्रयास

आत्मिक शक्तियो की निधि के प्रयोजन से यदि कोई उसे खोजने के प्रयास मे लग जाता है तो उसका पुरुषार्थ उस निधि को खोज लेने के रूप मे अमित फल को देने वाला हो जाता है। तब वह स्वय अपने ही लिये अमित फल के दान का दातार बन जाता है। आवश्यकता है कि ढूढने का प्रयोजन स्पष्ट ही तथा प्रयास कठिन हो। कल्पना करे, कोई ज्योतिषी आपको

बतावे कि खण्डहर के रूप मे पड़े एक पुराने मकान के गन्दगी ओर कूड़े-कर्कट भरे चोक के नीचे एक बर्तन में चिन्तामणि रत्नों का ढेर दबा हुआ है तो क्या आप उस खण्डहर के पास जायेंगे या नहीं? उस गन्दगी की दुर्गन्ध से घबरा कर आप भाग खड़े होंगे या उस गन्दगी को अपने ही हाथों से हटाने का प्रयास करेंगे? मैं सोचता हू कि प्रत्येक व्यक्ति ऐसे समय मे केवल चिन्तामणि रत्नों का ध्यान रखेगा। वह गन्दगी को पसन्द नहीं करेगा, किन्तु उससे घृणा भी नहीं करेगा क्योंकि वह जानता ह कि इस गन्दगी को हटाने पर ही रत्नो की प्राप्ति होगी। वह गन्दगी, पत्थर आदि सारे कूड़े-कर्कट को हटायगा तथा यह सब काम बिना दूसरों को जतलाए चुपचाप करेगा। यह सब इसलिये होता है कि चिन्तामणि रत्नों की निधि प्राप्त करने का उसका प्रयोजन पक्का बन जाता है, तब वह उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थपूर्ण प्रयास करता है।

भौतिक सम्पत्ति को प्राप्त करके भौतिक-सुख के लिये भी जब प्रयोजन ओर पुरुषार्थ सुनिश्चित हो सकते हैं तो यह सम्पत्ति तो सीमित होती ह तथा इसका सुख भी परिमित होता है। यह भौतिक शक्ति पराधीन भी होती है। किन्तु दूसरी ओर आत्मा के पास अमित शक्ति होती है जो स्वाधीन भी होती है। इस आध्यात्मिक निधि से जो सुख मिलता है, वह भी अखूट होता है। ऐसी निधि की उपलब्धि के लिये तो प्रत्येक विवेकशील आत्मा का प्रयाजन एव प्रयास पक्का ओर पुष्ट होना ही चाहिये।

दातार से साक्षात्कार करे

यह आध्यात्मिक निधि देने वाला जो दातार ह, उससे पहले आपको साक्षात्कार करना होगा। अमित निधि की दातार भी वही हे तो अमित फल की दातार भी वही आत्मा ह जो स्वाधीन शक्ति की धारिणी है। ऐसी आत्मा जो आपके पास है, वही आत्मा एक छोटे बच्चे क पास म भी है। इसका मतलब है कि जो खजाना आपके पास हे, वही खजाना छोटे बच्चे के पास भी हे। परन्तु उस छोटे बच्चे को अपने खजाने का पता नहीं हे आर उस पता हो भी कैसे, जब बडो को भी उसका पता नहीं ह। जब खजाने का पता नहीं तो दान मिलेगा कहा से आर दातार को पहिचानोगे कैसे? इसलिये दातार को पहिचानने का पहिला काम माना जाना चाहिये।

हटाती है, तब उससे जो स्वास्थ्य को हानि होती हे, वह तो अस्थायी होती है, लेकिन मन की गन्दगी से मन को हीं नहीं, शरीर के स्वास्थ्य को भी स्थायी हानि होती हे। इस गन्दगी को पहले दूर हटाना होगा और इस सफाई के लिये किसी बाहर के हरिजन की जरूरत नहीं होगी। स्वय के अन्तर्मन की गन्दगी को हटाने के लिये तो स्वय को ही झाड़ू लगानी पड़ेगी और सफाई करनी होगी। किसी कवि ने कहा है-

प्रेमी बनकर प्रेम से झाड़ू रोज लगाया कर
मन मन्दिर मे गाफिले, झाड़ू रोज लगाया कर
सोने मे तो रात गुजारी, दिन भर करता पाप रहा
इसी तरह बरबाद तू बन्दे, करता अपने आप रहा
प्रात काल उठ प्रेम से, जिनवर के गुण गाया कर

अमित फल दातार से साक्षात्कार का यही उपाय है कि पहले अपने मन के मैल को साफ कर डाल, ताकि निर्मलता के वातावरण मे आत्मा के दर्शन हो सके।

गन्दगी के ढेर पर खुशी कैसी ?

लेकिन आज का आदमी तो गन्दगी को हटाने की बजाय गन्दगी के ढेर पर बैठकर खुशिया मनाता है। रात प्रमाद मे गुजर जाती है तो दिन पाप मे गुजरता है। पाप की गन्दगी को वह भीतर मे लगातार जमा करता रहता है। वह यह नहीं सोचता कि दूसरों को धोखा देकर जो सम्पत्ति एकत्रित करता है या अन्य पाप करता है, उससे वह अपने आपको ही धोखा देता है। एक ओर तो इस प्रकार प्रतिक्षण वह पाप करता हुआ गन्दगी को इकट्ठी करता है तो दूसरी ओर उस गन्दगी को छिपाने की भी वह कोशिश करता रहता है। पाप छिपाने का मायावी प्रयास वह इसलिये करता है कि गन्दगी के होते हुए भी दुनिया उसे साफ आदमी समझे। किन्तु आप जानते है कि गन्दगी को जितनी ज्यादा दबाने की कोशिश की जाती है, वह अपनी बदबू के साथ उतनी ही ज्यादा बुरी तरह फूट कर बाहर निकलती है। इसका बुरा असर दूसरो पर भी पड़ता है, मगर सबसे ज्यादा तो अपने खुद पर ही पड़ता है। इस अमूल्य जीवन को गन्दगी में बरबाद करते हुए भी आज आदमी अपने अज्ञान से खुशी मनाता है-यही सबसे बड़ी विडम्बना है।

जिन्दगी को इस तरह गन्दगी मे लगादी तो पल्ले कुछ नहीं पड़ेगा और खाली हाथ जाना होगा। सिकन्दर बादशाह ने बड़े-बड़े राज्य जीते, धन-दौलत इकट्ठी की और दुनिया मे अपना रुतबा जमाया मगर जीवन मे उसने कुछ पाया नहीं-खोया ही खोया और इसका नतीजा यह हुआ कि अन्तिम समय मे खाली हाथ वह पछता रहा था। दुनिया भर की सम्पत्ति और वैभव को एकत्रित करने की जो लालसा है तथा उसे प्राप्त करके जो खुशी मनाई जाती है, वह एक तरह से गन्दगी के ढेर पर बैठकर मनाई जाने वाली खुशी है। जीवन मे अन्दर ही

अन्दर गन्दगी इकट्ठी होती जाय-रोग बढता जाय और आप बेभान रहे तो मानिये कि इस ससार में आपका जो गति क्रम है, वह तुच्छ प्रयोजन के साथ ही चल रहा है।

मानसिक गन्दगी को जब मिटाने का प्रयास नहीं किया जाता है तो मन भी अस्वस्थ बनता है और शरीर भी अस्वस्थ बनता है। मन की बीमारियो से ही शरीर की अधिकतर बीमारिया फैलती है। विद्यालयो मे आज छात्रो को यह विज्ञान समझाया जाना चाहिए कि मन की गन्दगी समूचे जीवन को किस प्रकार और कितना गन्दा बनाती है? भावी पीढी को अगर ऐसे सस्कार शुरु से दिये जाय और वे अपने कोमल मस्तिष्क मे इस विकार के प्रति पूर्णतया सचेत बन जाय जिससे आने वाले भविष्य को कम से कम आज की सी गन्दगी से मुक्त रखा जा सकेगा।

बन्धी और खुली मुट्ठियां

दुनिया को यह शिक्षा दी जाय कि बच्चा जब जन्म लेता है तो अपनी पूर्व पुण्यवानी लेकर आता है सो उसकी मुट्ठिया बन्धी हुई होती है, किन्तु वह यहा से दिवालिया होकर खाली हाथ जाता है तो मृत्यु के समय वे मुट्ठिया खुली हुई होती हैं। इसका सकेत यही है कि मुट्ठी बन्द करके आ रहा है याने कि कुछ लेकर आ रहा है और जाते हुए खुली मुट्ठियो का मतलब हुआ कि जाते हुए वह कुछ भी साथ मे ले नहीं जा रहा है यानि कि वह अपनी जिन्दगी मे कुछ भी कमा नहीं सका। जो लाया था उसे खो दिया और नया कुछ पा नहीं सका।

यह रूपक छोटा-सा है, परन्तु इस पर आप गहरा चिन्तन करे। जीवन में जितनी हटा सके उतनी गन्दगी को हटाइये, क्योकि गन्दगी को हटाते-हटाते वह गहराई आ जायगी, जहा चिन्तामणि रत्न दबा हुआ है। सफाई का वह स्तर आते ही अमित फल दातार से आप की भेंट हो जायगी। जिन्दगी भर अगर गन्दगी नही हटी तो न अमित फल दातार दीखेगा और न कभी अमित फल की ही उपलब्धि हो सकेगी। मानव जीवन का मूल्य ही इसमे है कि इस गन्दगी को हटाने के लिये कठिन से कठिन प्रयास किया जाय। मन में जितनी ममता है, वहा स्वार्थ है वैर और विरोध है और वही गन्दगी है। इस गन्दगी को हटाने पर मन मे जब समता का समावेश होता है तो वहा निर्मलता का रूप बनता है तथा अमित फल दातार के दर्शन का अवसर आता है।

मन मन्दिर मे झाड़ रोज लगाया कर

इस कारण मन मन्दिर मे राज झाड़ लगाने की आदत बनाई जानी चाहिये जिससे ममता की गन्दगी हटती जाय और समता की निर्मलता आती जाय। ममता का कचरा साफ करने के लिये कवि आगे कहता है-

भूख प्यास पड़ा पड़ासी तेने रोटी खाई क्या ?

दरिया पान पड़ा है तेरे तेने मौज उड़ाई क्या ?

सबसे पहले पूछकर, पीछे भोजन खायाकर

मन मन्दिर मे तू झाडू रोज लगाया कर

जब मन की ममता हटती है, समता आती है तो सहानुभूति भी आती है और सहयोग भी आता है। स्वार्थी व्यक्ति कभी नहीं देखता कि उसके पड़ौसी पर भी क्या गुजर रही है? सम-भाव और सम-दृष्टि की स्वच्छता जब मनुष्य के मन और मस्तिष्क मे रम जाती है, तभी उसकी दृष्टि व्यापक, सरस, और सजग बनती है। तब वह स्वय को भी देखता है-बाहर से नहीं भीतर से ओर बाहर भी सबको उसी सहृदयता से देखता है।

अपने अन्दर आप भी रोज झाडू लगाया करो और सोचो कि पड़ौसी अपने घर मे भूखा पड़ा हो और आप अपने घर मे अनाज को भरके रखो और सड़ाओ तो आप ममता की गन्दगी के कितने बड़े ढेर पर खड़े हो? आप ममत्व भाव से सोचते है-यह धन मेरा है और उसके साथ आर्त्त एव रौद्र ध्यान की अप-धाराओ में बहते है तो आपका मन कैसे साफ होगा ओर कैसे आप अपने अमित फल दातार के दर्शन कर सकेगे?

व्यक्ति कभी सोचता है कि मैं किसी को थोड़ा दे दूगा या धन से उसकी सहायता कर दूगा तो में उस पर बड़ा उपकार करूगा। किन्तु जब मन मे सफाई आयगी तो समझ में आयगा कि तू तो उस पर उपकार कर रहा हे या नहीं- यह तो अलग बात है मगर किसी गरीब और दु खी की सहायता करके तू अपने पर तो उपकार अवश्य ही कर रहा है। तू किसी को अपने पास से कुछ नहीं देता है तो यह तेरी आसक्ति है मन की गन्दगी है ओर जब तू नि स्वार्थ भाव से कुछ त्याग करता हे तो तू अपने गन्दे मन को साफ करता है-आसक्ति के मैल को धोता है। मन की स्वच्छता के धरातल पर ही समता का प्रवेश होता है।

त्याग में निर्लेप भावना रखे

समता की दृष्टि से जो भी त्याग किया जाय, उसमे निर्लेप भावना होनी चाहिये। लेप ममता का होता हे ओर जब ममता छूटती हे तभी निर्लेप वृत्ति पुष्ट बनती है। स्वच्छता, समता ओर निर्लेपता के साथ अमित फल दातार की खोज सफल होती है। तब जो अपने पास से किसी की सहायता मे कुछ दिया जाता हे, वह समत्व भावना से दिया जाता हे। किन्तु कुछ मेरे भाई-बहिन जो देत भी हैं पर भावना यह रखते हे कि हम जिसकी सहायता करते हैं, वह हमारा उपकार माने ओर जिन्दगी तक हमसे दबा हुआ रहे। यह स्वार्थपूर्ण विचार है तथा ऐसे लोग मौका आने पर अपना अहसान भी जताते हैं ओर उस पर टकोरा भी मारते हैं। यह वास्तव में समत्व का त्याग नहीं हे, त्याग का ढोग मात्र होता हे।

जब त्याग मे निर्लेप भावना नहीं होती तो आडम्बरी वृत्ति बढती है। वही आडम्बर सामाजिक रीति-रिवाजों मे भी बढता है। कोई चन्द-चादी के टुकडे इकट्ठे कर लेता हे तो झूठी शान बताने के लिये आडम्बर रचता हे और पाप से कमाई हुई पूजी को पाप मे ही लगाता हे। इस तरह मन की गन्दगी का वह बढाता रहता हे। यह विचार ऐसे आडम्बरियो के मन म नहीं

आता कि सामाजिक क्षेत्र में नये रीति-रिवाज बनाकर ऐसा व्यवहार बनाया जाय, जिससे छोटे और गरीब भाइयों को तकलीफ महसूस न हो। आडम्बर भरे वातावरण में हीन भावना का अधिकाधिक प्रसार होता है तथा विचार व व्यवहार मे गन्दगी बढती जाती है।

समता से स्वच्छता होगी

ममता की इस गन्दगी की स्वच्छता समता की सहायता से ही की जा सकेगी। जब विवेकशील लोग यह सोचेंगे कि हमारे आडम्बर करने पर धनहीन लोग भी देखा-देखी आडम्बर करते हैं और अपने मकान झोंपड़ें भी बेचकर दु खी बनते हैं तो हम झूठी शान नहीं दिखावें। समाज मे ऐसे सद्विवेकी लोग आगे आवे तथा आवश्यक्ता हो तो गरीबों की सहायता ही नहीं, बल्कि अपनी सम्पत्ति का सम-वितरण करने का भी साहस दिखावे तो सामूहिक रूप से समता का वातावरण बनाने में बड़ी सरलता रहेगी। इतना नहीं कर सकें, तब भी सामाजिक धरातल पर व्यर्थ के धन प्रदर्शन तो यथासाध्य शीघ्र रोके ही जा सकते हैं ताकि विषमता का नग्न प्रदर्शन तो न हो।

सामाजिक धरातल पर कुरीतियो को समाप्त करना तथा नई कुरीतियो को पैदा न होने देना प्रत्येक स्वस्थचेता व्यक्ति का कर्त्तव्य है। ममत्व का त्याग करके यह सोचा जाना चाहिये कि समाज मे रहने वाले सभी एक समान भाई हैं तथा सबके साथ समान व्यवहार होना चाहिये। यह भी ध्यान होना चाहिये कि सभी भाइयो को निर्वाह के समुचित साधन प्राप्त हो, सभी मलिनता छोड़ कर निर्मल समता की भावना ग्रहण करे तथा सभी समान सहृदयता से आप्लावित रहे। ऐसी उदार भावना यदि सभी समर्थ लोग बनाले तो क्या इस समाज को सुखी एव समतापूर्ण बनाने मे कोई बाधा आ सकती है?

परन्तु खेद का विषय यही है कि सामाजिक क्षेत्र में आप लोगो के जैसे उदार विचार बनने चाहिये, वैसे नहीं बन रहे हैं। विचार ओर व्यवहार में स्वच्छता आनी चाहिये, वहा गन्दगी ही ज्यादा इकट्ठी होती हुई दिखाई दे रही हे। अत यह सावधान होने का समय है। इस बढ़ती हुई गन्दगी को रोकिये, मन को साफ बनाइये और उस स्वच्छता से समतामय वातावरण मे अमित फल दातार को खोजिये।

अमित फल दातार को खोज

जागृत आत्मा से भेट हो सकेगी।

अमित फल दातार आत्मा से यदि भेट करली तो सारी ऋद्धि-समृद्धिया ओर शक्तिया आपके चरणो मे लोटने लगेगी। भारत की स्वतत्र हुए इतने वर्ष हो गये किन्तु गरीबो की गरीबी मे कोई फर्क नहीं आया-उनका दु ख बढता जा रहा है। मैं तो देखता हू और हेरान होता हू कि इन दु खी आखो के आसू कब दूर होगे? देश का यह नक्शा कब बदलेगा? इसमे मेरा चिन्तन है, लगाव नहीं है। आत्मा की दृष्टि से सभी आत्माओ को आत्मा के तुल्य समझता हू। इसी नाते आपसे भी कहता हू कि आप मन के कूड़े-कर्कट को हटाने की कोशिश कीजिये ओर ममता को त्यागिये, जिससे सबके प्रति सहानुभूति पैदा होगी एव समता-भाव विस्तृत बनेगा। अमित फल दातार की खोज की सफलता के लिये ऐसी ही पृष्ठभूमि की आवश्यकता होती है।

विराट् स्वरूप की दिशा .

अमित फल दातार आत्मा की खोज अनन्त शक्तियो का द्वार खोल देती है और उनके प्रकाशित होने से विराट् स्वरूप की दिशा प्रशस्त बन जाती है। आत्मा के साक्षात्कार से आत्मा को अमित फल की प्राप्ति होती है और उसका स्वरूप विराट्ता की ओर अग्रसर बनता है। इसके लिये मनुष्य को यथार्थवाद की स्थिति से चलने का यत्न करना चाहिये और अपने मन में झाक कर वहा की गन्दगी को साफ करने का सकल्प बनाना चाहिये। यदि ऐसा किया तो जीवन मे निर्मलता बढेगी और प्राणीमात्र के साथ समत्त्व की भावना फैलेगी।

यही दिशा है अमित फल दातार की खोज की, जिस तरफ आगे बढ़कर शान्ति और आनन्द की ऐसी धारा प्रवाहित की जा सकती है जिसमे निमज्जित होकर न केवल स्वय की आत्मा ही पवित्र बनेगी, बल्कि सामाजिक जीवन भी विकास का नया निखार पा सकेगा।

गगाशहर-भीनासर

दि० १८-११-७३

7

विकारों का त्याग ही तप

⁂ सम्यक् भावना को आचरण में उतारना ही प्रभु की सच्ची स्तुति है ।

⁂ स्तुति में वर्णित प्रभु के गुणों को आचरण लाने से ही आत्मा और परमात्मा के बीच घनिष्ठता पैदा होती है ।

⁂ सद् विकास का क्रम विकारों के त्याग से बनता है और त्याग ही से आत्म शक्ति का निधान प्राप्त होता है ।

⁂ विकार और वासना की दुर्गन्ध को आभ्यान्तर व वाह्य त्याग-तप से ही मिटाया जा सकता है ।

⁂ विकारों का त्याग ही तप का मूल एव आन्तरिक लक्ष्य माना गया है ।

⁂ तप से विषय, विकार और वासना के तूफान थम जाते हैं ।

⁂ तप आराधना से वडे-वड़े असाध्य रोगों पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्तिनाथ भगवान् के चरणों मे विनति करते हुए काफी समय हो गया है, परन्तु कव
विनति से ही काम चलने वाला नहीं है। विनति के साथ-साथ शान्ति के स्वरूप को समझ
तथा उसे प्राप्त करने का प्रयास भी करना चाहिये। कुछ समय की दृष्टि से विनति कर लेने मा
से ही न तो शान्ति का स्वरूप समझ पायेगे और न उसको ग्रहण ही कर पायेंगे। शान्ति
स्वरूप को तो भली-भाति समझ कर उसको आत्मसात् करना पड़ेगा-आत्मा के कण-क
मे शान्ति को रमा लेनी पड़ेगी, तभी शान्ति का आनन्दानुभव हो सकेगा। जहा शान्ति
ग्रहण करने की विधि है, उस विधि की तरफ दृष्टि रहे और उसे प्राप्त करने का पुरुषार्थ हो त
वैसा प्रणिधान प्राप्त होगा, एव शुद्ध प्रणिधान के आधार पर शान्ति लाभ हो सकेगा। इसव
लिये भगवान् शान्तिनाथ के आदर्श स्वरूप को जव अपने जीवन मे साकार रूप द देंगे त
उसे ही साकार रूप की विनति कह सकेगे।

भावना को आचरण में उतारना ही प्रभु की सच्ची स्तुति होती है। प्रभु के जो गुण-गा
किये जाते हैं वस्तुत वे गुणगान ही जिस दिन इस आत्मा के होंगे, तव लक्ष्य की पूर्ति हाग
परमात्मा की विनति और गुणगान तो लम्बे चौड़े श्लोकों मे की जाय-उनकी स्तुति औ
प्रार्थना में बड़े-बड़े भजन बना कर गाये जाय, किन्तु जब तक प्रभु की आज्ञा को अप
आचरण में साकार रूप नहीं दिया जाय तथा प्रभु के स्वरूप का साक्षात्कार करने का उद्देश
न बनाया जाय तो ये सारी विनतिया और गीतिकाए केवल उच्चारण कथन एव दिखाव मा
तक ही सीमित रहेगी। जिससे इनका कोई सार रूप प्रकट नहीं होगा और यदि उच्चारण म
की रूढ परिपाटी या परम्परा को पकड़ ले तो उसे फिर प्रभु की स्तुति और प्रार्थना या ना
देना भी सार्थक नहीं रहेगा।

बनती जाती है। यही क्रम दूसरी ओर से भी चलता है कि अपने जीवन की गुण सम्पन्नता के साथ-साथ प्रभु की प्रार्थना और स्तुति मे रुचि भी अधिकाधिक घनिष्ठ, रुधिकर और लाभप्रद होती जाती है।

आत्मा-परमात्मा की घनिष्ठता

प्रार्थना आत्मा और परमात्मा को आमने-सामने लाने का माध्यम होती है किन्तु जब प्रार्थना की एकाग्रता बढ़ती जाती है तो यह सम्पर्क-सूत्र की सशक्त कड़ी बनकर आत्मा और परमात्मा के बीच मे गहरी घनिष्ठता पैदा करती है। यह अवस्था केवल स्तुति के उच्चारण से नहीं आती। स्तुति मे वर्णित प्रभु के गुणो को अपने आचरण मे लाना होता है। जब प्रार्थी प्रार्थना की दृष्टि से परमात्मा-स्वरूप की महिमा का वर्णन करता है और फिर भी आचरण की दृष्टि से शून्य ही बना रहता है तो उच्चारण और गायन कला को सुनकर स्तुति के श्रोता भले ही स्तुति-कर्त्ता की प्रशसा कर ले और वे परमात्मा स्वरूप में मन लगा ले, किन्तु उससे स्वय स्तुति-कर्त्ता का विशेष लाभ होने वाला नहीं है।

परमात्मा का स्वरूप कितना विराट् होता है। उस विराट् स्वरूप से कुछ भी ग्रहण किये बिना स्तुतिकर्त्ता परमात्मा की स्तुति करता रहा और श्रोताओ को लगेगा कि उसने उन गुणो मे से अपने आचरण मे कुछ भी उतारा नहीं है तो उसकी वह प्रशसा भी धीरे-धीरे समाप्त हो जावेगी। जैसे ही स्तुति करने वाले व्यक्ति के जीवन मे वे परमात्मा के गुणो का अश भी नहीं पायेगे और आचरण की श्रेष्ठता नहीं देखेगे तो उनके मन मे से भी परमात्मा की स्तुति का प्रभाव हट जायगा। वे सोचेगे कि यह तो केवल वाचिक दृष्टि से स्तुति का प्रसग है-बिरुदावलि मात्र है।

स्तुति करने और स्तुति करने वाले का स्थायी प्रभाव तभी पड़ेगा, जब इस स्तुति के माध्यम से आत्मा और परमात्मा के बीच आचरणगत घनिष्ठता स्थापित की जाय। यह घनिष्ठता तभी होती है, जब स्तुति की कड़ियो का स्वरूप जीवन की कड़ियो मे उतरे। केवल बिरुदावलि करने से न तो प्रभु के स्वरूप की महिमा बढ़ती है और न ही भक्त के जीवन मे प्रभु के साक्षात्कार का कोई भाव उत्पन्न होता है। यह प्रभु के आदर्श के प्रति अपनी वफादारी भी नहीं है। स्तुति न की जाय अथवा सुविधानुसार भले ही कभी-कभी ही की जाय, किन्तु उसमे भावना की सचाई और आचरण की ईमानदारी आनी चाहिये। स्तुति नहीं करना अपराध नहीं है किन्तु स्तुति करने का ढोग करना और आचरण को शून्य रखना अवश्य ही निकृष्ट अपराध कहा सकता है।

इस कारण स्तुति और प्रार्थना का जितना भी जीवन मे नियम रखे, उतने समय मे परमात्म स्वरूप मे मन इतना एकमेक हो जाना चाहियें कि गुण ग्राहकता की वृत्ति कुछ न कुछ बल पकड़े ही। उससे प्रभु के बताये हुए मार्ग पर चलने की निष्ठा जागनी ही चाहिये। ऐसी निष्ठा ही क्रियाशील बनकर आत्मा और परमात्मा के बीच मे ऐसी मजबूत घनिष्ठता कायम करती

है कि एक दिन यह घनिष्ठता विलय का रूप ले लेती है और ज्योति-स्वरूप में ज्योति का मिलन हो जाता है।

शक्ति का शुद्ध प्रणिधान प्राप्त करें

ज्योति में ज्योति का मिलन सर्वोच्च लक्ष्य है तथा इस लक्ष्य की पूर्ति हेतु शुद्ध प्रणिधान के माध्यम से आत्मिक शक्तियों के निधान को प्राप्त करना होगा। चरम शान्ति और प्रकाश की उपलब्धि का यही मार्ग है। मानव अपनी स्तुति की सार्थकता पर जितना ध्यान देगा, उतना ही वह शुद्ध प्रणिधान का निर्वाह करते हुए शान्ति-स्वरूप की झलक पा सकेगा। शुद्ध प्रणिधान का अर्थ है मन, वचन, काया का व्यापक एवं ठोस आध्यात्मिक समूह जिसके पा लेने पर मानव सब कुछ पा लेता है। शुद्ध प्रणिधान में विचार, वाणी एवं व्यवहार सभी शुद्ध होते हैं जिससे आत्मा की वास्तविक शक्ति को पहिचान कर अपनी सही स्थिति में आने का प्रयास करती है।

किसी भी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये कुछ न कुछ शक्ति तो अवश्य लगानी ही पड़ती है-चाहे वह शक्ति किसी भी रास्ते पर लगे। तुच्छ से तुच्छ वस्तु को भी प्राप्त करने की कोशिश की जायगी, तब भी उसमें प्रणिधान तो होगा ही और महान् से महान् तत्त्व को प्राप्त करना है तो उसके लिये प्रणिधान भी उतना ही शुद्ध होना अनिवार्य होगा। शुद्ध प्रणिधान एक प्रकार से व्यापक और ठोस शक्ति समूह होता है जो मार्ग की सारी बाधाओं को हटाता हुआ इस आत्मा को ठेठ मोक्ष मंजिल तक बढ़ा ले चलता है। शुद्ध प्रणिधान को एक बार पा लिया तो समझिये कि आत्म-विकास के मार्ग पर मजबूती से चलने के लिये बहुत कुछ प्राप्त कर लिया है। पर इस आध्यात्मिक शक्ति-समूह को मनुष्य चाहे कि एक साथ प्राप्त करलू तो यह शक्य नहीं है।

त्याग की अद्‌भुत शक्ति

जीवन की सुकोमल वृत्तियो को जगाने का काम त्याग करता हे ओर इसीलिये त्याग की अद्‌भुत शक्ति मानी गई हे कि जो देता हे-छोड़ता हे, वह महान् वनता हे। फिर भी त्याग मे इस हाथ देना और उस हाथ लेना हे। वाह्य रूप से जितना त्याग के रूप मे छोड़ना दिखाई देता है, आन्तरिक रूप से त्यागी को छोड़ने की अपेक्षा कई गुना अधिक लाभ आत्म-वल की प्राप्ति के रूप मे मिलता है। इस दृष्टि से त्याग मे देना कम है और लेना अधिक हे। व्यापारिक बुद्धि से भी कोई सोचे तो यह लाभ का व्यापार हे ओर इसमे प्रवेश करने से किसी भी वुद्धिमान को पीछे नहीं रहना चाहिये। शुद्ध प्रणिधान भी एक प्रकार से त्याग का ही रूप होता हे। शुद्ध प्रणिधान जहा बनेगा, वहा त्याग तो करना ही पड़ेगा ओर त्याग मे जितनी गहराई आती जायगी, उसकी अद्‌भुत शक्ति भी प्रकट होती रहेगी।

छोटी से छोटी वस्तु को पाने के लिये कुछ न कुछ परित्याग करना पड़ता हे। यदि कोई अपने हाथ मे इत्र आदि कोई सुगन्धित पदार्थ लेना चाहता हे तो पहले उसे हाथो पर लगी हुई दुर्गन्धि का परित्याग करना होगा। दुर्गन्ध मिटेगी तो सुगन्ध मिलेगी। दुर्गन्ध का परित्याग करने पर ही वह सुगन्ध का आनन्द ले सकेगा। हाथो मे दुर्गन्धयुक्त पदार्थ भी रखे और सुगन्धयुक्त पदार्थ ले तो उसे सुगन्ध का आनन्द नहीं मिलेगा, बल्कि दुर्गन्ध सुगन्ध को भी दूषित बना देगी। सुगन्ध का भरपूर आनन्द लेने के लिये दुर्गन्ध का सर्वथा त्याग करना होगा-यह परित्याग भले ही वह धीरे-धीरे करे। इत्र को हाथ मे लेना है तो हाथो पर लगे घासलेट को साफ करना ही पड़ेगा। इसी प्रकार जीवन मे भी घासलेट के समान दुर्गन्ध भरी हुई है, उसका परित्याग आवश्यक है। इस परित्याग के साथ-साथ प्रणिधान भी शुद्ध होता हुआ चला जायगा।

त्याग के रूप मे जो छोड़ना है, वह ममत्व का छोड़ना है तथा शुद्ध प्रणिधान के रूप मे जो ग्रहण करना है, वह समत्व को अपनाना है। ममत्व भावनात्मक रूप है तो उसके बाह्य प्रतीक भौतिक पदार्थ होते है। त्याग मे ममत्व की भावना को पहले छोड़ना होता है, फिर प्रतीक भी छूट जाय तो श्रेष्ठ ही है। त्याग का भावनात्मक प्रतिफल समता के रूप मे परिलक्षित होता है और समता के प्रतीक सभी क्षेत्रो मे समभाव एव समदृष्टि के रूप मे स्पष्ट दिखाई दे सकते हैं। त्याग और शुद्ध प्रणिधान एक दूसरे के पूरक होते है।

त्याग दुर्गन्ध रूप वासना का

शुद्ध प्रणिधान को प्राप्त करने के लिये जीवन मे क्या छोड़ना जरूरी होता है? जीवन मे दुर्गन्ध रूप क्या है? मूल मे दृष्टि डाले तो स्पष्ट होगा कि यह दुर्गन्ध वासना की होती है। जीवन मे इस वासना का जितना असर बढता है, उतना ही जीवन दुर्गन्धित बनता है। पर-पदार्थों की वासना की ओर जब जीवन आगे बढ़ता है तो वह एक तरह से पतन की ओर बढ़ता है। वासना की दुर्गन्ध को जितने अशो मे त्यागा जाता है, जीवन आत्माभिमुखी बनता

है। यह आत्माभिमुखी रूप जितना अभिवृद्ध होता है, जीवन में उतना ही सुगन्ध का सचार होने लगता है। इसके सचार से ही शुद्ध प्राणिधान का निर्माण होता है।

अन्तरात्मा मे रमण करने की वृत्ति का विकास ही जीवन को सुगन्धित बनाने का प्रयास कहलाता है। इस शुद्ध प्रणिधान को पाने के लिये यदि इन्सान प्रयत्न करे तो मै सोचता हू कि इस प्रणिधान के समग्र रूपो को गहराई से समझना तथा उन्हें अपने जीवन में उतारना आवश्यक है। ठोस आधारों पर यदि ऐसा सफलतापूर्वक किया जाय तो शान्ति-लाभ का लक्ष्य भी प्राप्त किया जा सकता है। मोक्ष मार्ग के जो तीन सोपान-सम्यक् ज्ञान, सम्यक्दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य-बताये गये हैं, इनमे से सम्यक् चारित्र्य के अन्तर्गत जब त्याग और तप का प्रसग आता है तो उस समय शुद्ध प्रणिधान की दृष्टि से त्याग और तप के आभ्यन्तर महत्त्व का हृदयगम करना चाहिये।

जरा तप की स्थिति का सकेत में दे गया हू कि जब बाहर से लोगो को तन को तपाते हुए शरीर को कृश बनाते हुए तथा बाहर की स्थिति से ही तप का आराधन करते हुए देखते हैं तो यह समझ मे आता है कि उन्होने तप के आन्तरिक महत्त्व को नहीं समझा है। कोई तन को तपाने के लिये ही तप करना चाहता है तो उससे तप नहीं होगा। तप का प्रारम्भ भी अन्तरात्मा की गहराई से होना चाहिये-सम्यक् ज्ञान की प्रतीति से होना चाहिये। ऐसा जब होगा, तभी आत्मा के शुद्ध स्वरूप के साथ चिपका हुआ मेल दिखाई देगा-उससे फूटती हुई दुर्गन्ध का अनुभव होगा। तब जो पहला प्रयास होगा, वह यही होगा कि इस मैल और दुर्गन्ध को समाप्त करने मे तप का प्रयोग किया जाय। जो तप अन्दर के मल को दूर करेगा, वही तप बाहर के रूप को भी प्राभाविक बना सकेगा। वासना की दुर्गन्ध को ऐसे ही आभ्यन्तर और बाह्य त्याग के माध्यम से मिटाई जा सकेगी।

तप अज्ञानपूर्वक या ज्ञान-साधना मे?

अच्छा है और आमदनी अच्छी हो रही है। अब वह व्यापारी कल का भूखा है तथा आज भी भोजन करने मे इस ग्राहकी के कारण विलम्ब होता जा रहा है, फिर भी धन लाभ की दृष्टि से उसे उस वक्त भूखे रहने का कष्ट भी मालूम नहीं होता बल्कि कहे कि यह भोजन यहा ही मगा लिया है, वह उसे करले तब भी वह भोजन नहीं करेगा। क्योकि उसका एक ही ध्यान होता है कि ग्राहकी का ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाना चाहिये। इसलिये वह प्रमुदित भावना से व्यापार मे लगा रहता है। उसका भूखा रहना उसके तन को तपाता नहीं है। किन्तु इस प्रमोद मे भी तप की आन्तरिकता नहीं होती। हा, ऐसी ही प्रमोदपूर्ण लगन को धन से हटा कर यदि आत्म-विकास के साथ जोड़ दी जाय तो शान्ति के क्षणो मे जीवनी शक्ति की खोज सफलतापूर्वक की जा सकेगी।

ज्ञानपूर्वक जब कोई तपस्या पच्चक्ख लेता है तो आन्तरिक लगन के कारण उस व्यापारी की तरह उसको भी भूख-प्यास का तनिक भी अनुभव नहीं होता है क्योकि अनुभव के सारे केन्द्र उस तपस्या की आन्तरिक लगन मे समाविष्ट हो जाते है। भूख और प्यास तभी सताती है जब उनका ध्यान किया जाता है। जब तपस्या के साथ शुद्ध प्रणिधान नहीं होता हैं तो उसे भूख और प्यास का ही ध्यान रहता है और वह यह सोचता रहता है कि कब सूर्यास्त हो एव कब वापिस सूर्योदय हो और वह पारणा करे? ऐसी भावना रहने से ही क्षुधा वेदनीय का अनुभव होता है। यह हमारा अज्ञान है कि तप का आन्तरिक महत्त्व मन मे धारण नहीं किया जाता। आत्म-शुद्धि के लिये जब तप किया जा रहा हो तो वह शुद्ध प्रणिधान के साथ होना चाहिये। जो आत्मा शुद्धि के लिये तप करते है, वे केवल अन्न-पानी का ही त्याग नही करते, बल्कि वासनाओ का त्याग करते है और गहरी लगन तथा आत्म साधना के साथ तपाराधन करते है।

विकारो का त्याग ही तप का लक्ष्य

वस्तुत विकारों का त्याग ही तप का मूल एव आन्तरिक लक्ष्य माना गया है। तपस्या करते हुए भी जब मनुष्य ज्ञान साधना को नहीं समझता है तथा अपने ऊपर नियत्रण नहीं रख पाता है तो वह उस समय भी विकारी भावो का सचय कर लेता है। इस कारण जब वह विकारी भावना के तूफान मे बह जाता है तो वैसा अज्ञान-तप करते हुए भी उसकी आत्मिक शक्ति मलिन होती है और इस मलिनता से उसका मन, वचन और तन दुर्गन्धमय बनता है। ऐसे अज्ञान-तप से न तो वह आत्म-स्वरूप को समझता है और न ही आत्मा के उस मैल को धोने का वह सफल प्रयास कर सकता है।

केवल आहार-पानी का छोड़ना ही तप नहीं कहलाता-यह भली-भाति समझ लेना चाहिये। वाहरी पदार्थो के त्याग के साथ अन्त करण में समाये हुए विषय ओर विकारो का त्याग भी आवश्यक हे। विकारो का त्याग नहीं तो उस तप की क्या सार्थकता है? गीता का एक श्लोक ह कि जहा तप की साधना हे, वहा से विषय और वासना के विकार वापिस लोट

जाते हैं। विकारों की मलिनता के हटने पर ही आत्मा को अपने निर्मल स्वरूप का भान होता है। उपवास की प्रधान उपलब्धि यह मानी जानी चाहिये कि हृदय में चलने वाले विकारों के तूफान का उनसे शमन हो जाय। बेले और तेले की तपस्या तक तो हृदय में निर्मल शान्ति छा जानी चाहिये। स्व० आचार्य गुरुदेव फरमाया करते थे, जिसकी मुझे कुछ स्मृति है कि जो विधवा बहिनें है, वे एक प्रकार से त्याग का स्वरूप लिये हुए रहती हैं। मन की अवस्था महीजन जानें किन्तु आप देखते हैं कि वासनाओं की दृष्टि से वे वाचिक और कायिक नियन्त्रण तो सामान्य रूप से साधती ही है। और जब वचन और काया पर नियन्त्रण साधने का अभ्यास हो जाता है तो मन के नियन्त्रण की शक्ति भी बढती ही रहती है। कारण वचन और काया भी मन से अधिक भिन्न नहीं रह सकते है।

कहने का अभिप्राय यह है कि हम किसी भी छोर से चलें, मन के नियन्त्रण की सर्वोपरि आवश्यकता रहती है और यह नियन्त्रण विकारों के त्याग से ही प्राप्त किया जा सकता है। मन पर नियन्त्रण नहीं रहता है, तभी विषय-विकारों की मलिनता चारों ओर से प्रवेश करने लगती है। यह संस्कारों का विषय है कि एक बालक को उसके माता-पिता एवं परिवार जन प्रारम्भ से ही ऐसी मलिनता से बचाने के लिये कैसी शिक्षा दे तथा सारे समाज का वातावरण भी किस प्रकार से ढालें ? संस्कारो का निर्माण यदि योजनाबद्ध रीति से किया जाय तो विकारो की इस गन्दगी को रोका जा सकता है। परिवार मे बढे बुजुर्ग और माता-पिताओ का स्वय का जीवन शुद्ध हो तथा वे वैसी ही शुद्ध भावनाए अपने बालको के हृदय मे डाल तो धीरे-धीरे सारी समाज का स्वरूप भी बदला जा सकता है। इस शुद्धि के दो ही सूत्र है कि वासनाओ का त्याग करो-विकारो को हटाओ तथा इसके सशक्त साधन के रूप मे भावविशुद्धिपूर्वक तप की शुद्ध आराधना करो। चाहे परिवार हो या समाज, स्वय की शुद्धि का बड़ा प्रभाव पड़ता है। जीवन बनाने की यही सच्ची राह है।

विकार मुक्ति की दिशा

साथ सागोपाग जीवन का निर्वाह करती हुई चल रही थी। श्वसुर की वह ऐसी सेवा करती कि सेठजी को वह अपने पुत्र रूप मे ही प्रतीत होने लगी, जैसे कि पुत्र मरा नहीं, मौजूद था। उनके हृदय म भी अपनी पुत्रवधू के स्वस्थ जीवन निर्माण का उत्साह जागृत हो गया । वे स्वय साधु जीवन व्यतीत करते ओर पुत्रवधू को सचरित्र जीवन की आदर्श प्रेरणा देते । इस प्रकार दोनो का जीवन चल रहा था।

इसी बीच एक बार पुत्रवधु को पीहर से एक विवाह के प्रसग से बुलावा आया और वह श्वसुर से आज्ञा मागने गई क्योकि पीहर गये उसे अर्सा हो गया था और वह वहा जाने के लिये आतुर हो रही थी। अब तक श्वसुर ने रहन-सहन या खान-पान के बारे मे पुत्रवधू पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया था- स्वय अपने आचरण से ही प्रेरणा दी थी। उन्होने सोचा कि यह वहा के वातावरण मे जायगी तो कहीं आज तक के जीवन निर्माण पर पानी न फिर जाय क्योकि विवाह के अवसर पर वासनापूर्ण प्रदर्शन होते है। फिर भी उन्होने सीधा निषेध नहीं करते हुए सकेत ही दिया कि पति ही चले गये तो अब तुम्हारे लिये कैसा विवाह है? पुत्रवधू ने सबसे मिलने का आग्रह किया तो श्वसुर ने अनुमति दे दी।

पुत्रवधू विवाह मे गई किन्तु वहा भी वह अपने सादे जीवन ओर सादी पोशाक के साथ ही गई। उसके माता-पिता जीवन निर्माण के विज्ञान मे कुछ समझते नहीं थे, उसे झट टोक दिया कि क्या उसके श्वसूर इतने कजूस हो गये है जो उसे अच्छे कपड़े भी पहिनने को नहीं देते ओर जबरदस्ती ही उसे अच्छी पोशाक पहिना दी। इसी तरह उसे कमजोर शरीर की भी उलाहना दी ओर उसे पोष्टिक खुराक खिलाने लगे। जब मा ने श्रृगार ओर स्वाद को नहीं छोड़ा तो उसने बेटी पर भी वैसा ही असर डाला।इस प्रकार इस सग से बाल-विधवा पर नया ही रग चढने लगा। उसका मन जो शान्त हो चुका था, फिर विकारी भावनाओ मे डगमगाने लगा। वह वापिस अपने ससुराल इसी मानसिक दशा मे लोटी। सेठजी ने सारा हालचाल देखा तो समझ गये कि उनके किये कराये पर पानी फिर गया है।

तप विकारों को गला देता है .

जहा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र को मोक्ष के मार्ग बताए हैं, वहा तप का भी वैसा ही महत्त्व है क्योकि तप जव विकारो को गला देता है तभी ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की निर्बाध आराधना सम्भव बनती है। तप की विधि का अवश्य ही अनुसन्धान करना चाहिये और उसके आराधन में सदा शुद्ध प्रणिधान रहना चाहिये। तप की आन्तरिकता को हृदयगम करके ही उसके बाह्य स्वरूपों पर आचरण किया जाना चाहिये, ताकि तप की वास्तविक प्राभाविकता प्रकट हो सके। विकार हटेगे तभी जीवन का सच्चा निर्माण हो सकेगा और तभी प्रभु की सच्ची विनति भी हो सकेगी। आत्मा ओर परमात्मा की घनिष्ठता को सम्पादित करने का एक ही उपाय है कि निर्विकार अवस्था की प्राप्ति की जाय।

गगाशहर-भीनासर

दि० २३-११-७३

8

तपाराधन · प्रणिधान की शुद्धि

⁘ शारीरिक/ मानसिक/ आर्थिक/ पारिवारिक/ जीवन सम्बन्धित अनेक अशाति का समाधान सम्यक् तप की आराधना से सम्भव है ।

⁘ तप की आराधना से मन-वचन-काया शुद्ध बनती है।

⁘ शिष्टता व सभ्यता को सही प्रकार से स्व जीवन मे धा न तो शक्तियों का अपव्यय रुक जायेगा और सचित शक्तिया जीवन को अधिक सुदृढ बनायेगी ।

⁘ मन, वच और काया की शुद्धि से देवत्व दूर नहीं रहता।

तप विकारो को गला देता है

जहा ज्ञान, दर्शन एव चारित्र को मोक्ष के मार्ग बताए है, वहा तप का भी वैसा ही महत्त्व है क्योकि तप जब विकारो को गला देता है तभी ज्ञान, दर्शन एव चारित्र की निर्बाध आराधना सम्भव बनती है। तप की विधि का अवश्य ही अनुसन्धान करना चाहिये और उसके आराधन में सदा शुद्ध प्रणिधान रहना चाहिये। तप की आन्तरिकता को हृदयगम करके ही उसके बाह्य स्वरूपो पर आचरण किया जाना चाहिये, ताकि तप की वास्तविक प्राभाविकता प्रकट हो सके। विकार हटेगे तभी जीवन का सच्चा निर्माण हो सकेगा और तभी प्रभु की सच्ची विनति भी हो सकेगी। आत्मा और परमात्मा की घनिष्ठता को सम्पादित करने का एक ही उपाय है कि निर्विकार अवस्था की प्राप्ति की जाय।

गगाशहर-भीनासर

दि० २३-११-७३

8

तपाराधन · प्रणिधान की शुद्धि

* शारीरिक/ मानसिक/ आर्थिक/ पारिवरिक/ जीवन सम्बन्धित अनेक अशाति का समाधान सम्यक् तप की आराधना से सम्भव है ।
* तप की आराधना से मन-वचन-काया शुद्ध बनती है।
* शिष्टता व सम्यता को सही प्रकार से स्व जीवन में धार ले तो शक्तियों का अपव्यय रूक जायेगा और सचित शक्तिया जीवन को अधिक सुदृढ बनायेगी ।
* मन, वच और काया की शुद्धि से देवत्व दूर नहीं रहता।

शान्ति जिन एक मुझ विनती

मानव के समक्ष बहुत ही महत्त्वपूर्ण प्रसग इस जीवन के साथ लागू होता है। ससार की चतुर्गतियो मे परिभ्रमण करते हुए इस आत्मा ने जो मानव जीवन की उपलब्धि की है, यह एक विशिष्ट उपलब्धि है। इस विशिष्ट उपलब्धि का प्रयोग विशिष्ट कार्य के सम्पादन मे किया जाय-तभी इसकी सार्थकता है, किन्तु इस सार्थकता को आज के मानव ने यथोचित महत्त्व नहीं दिया है तथा वह इस विशिष्ट उपलब्धि का सही तरीके से मूल्याकन नहीं कर पा रहा है-यह खेदजनक स्थिति है।

वर्तमान युग में सामान्यतया मनुष्य ने अपने मस्तिष्क मे यही विचार जमा रखा है कि जिस प्रकार एक मशीन के पुर्जों से काम लिया जाता है और एक मशीन से दूसरी मशीन तैयार कर दी जाती है, वैसा ही क्रम इस मानव जीवन का भी है। इस अमूल्य जीवन को भी मानव ने आत्म-ज्ञान की अपनी अल्पज्ञता में एक मशीन के तुल्य मान लिया है और वह उसका जैसा-तैसा उपयोग करता है। मानव जीवन का आन्तरिक पक्ष जब सामने नहीं रखा जाता हो तो उसका बाह्य उपयोग दुरुपयोग की श्रेणी मे ही आता है। आज देखा जाता है कि इस मानव तन का दुरुपयोग अधिक से अधिक धन कमाने और अधिक से अधिक भोग-भोगने मे लोग करते हैं। इस प्रकार का दृष्टिकोण जिनके मस्तिष्क मे है और इस प्रकार का आचरण जो अपने जीवन में करते हैं, सच पूछा जाय तो वे सही अर्थो मे इस महान् वैज्ञानिक उपलब्धि को तनिक भी समझ नहीं पा रहे हैं।

ऐसे लोग भले ही आधुनिक विज्ञान के पक्षपाती हैं, किन्तु शाश्वत एव महान् आध्यात्मिक विज्ञान का उन्हे जरा भी ज्ञान नहीं है। भौतिक विज्ञान का उन्हे काफी ज्ञान हो सकता है कि कैसे यत्रों का आविष्कार हुआ एव कैसे उनका निर्माण होता है और वे उस विज्ञान को महत्त्व भी देते हों, किन्तु भौतिक विज्ञान को उनके द्वारा दिया जाने वाला महत्त्व मानव-जीवन के अमित महत्त्व के समक्ष शून्य हैं।

मानव तन का वैज्ञानिक महत्त्व

भौतिक विज्ञान को ही महत्व देने वाले लोग भी यदि अपनी दृष्टि को वास्तविक बनावें और यह विचार करें कि यह मानव तन की उपलब्धि जो मुझे हुई है, भौतिक विज्ञान की दृष्टि से भी उसका महत्त्व सर्वाधिक है, तब भी मानव जीवन के सदुपयोग के सम्बन्ध मे एक स्वस्थ दृष्टिकोण का निर्माण किया जा सकता है। इस मनुष्य-तन के विज्ञान से बढकर और कोई

विज्ञान नही है। यह प्रत्यक्ष फल है। इस मानव-तन की महत्ता के सम्बन्ध मे पूर्व के महापुरुषों ने विशिष्ट बाते कही है तो उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् महावीर ने उद्घोषणा की है कि-

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणि य जन्तुणो।

मामुसत्त सुई सद्दा, सजमाम्मि या वीरय॥

अर्थात् प्राणियो के लिये चार अगो की उपलब्धि दुर्लभ है। इन चार अगो मे पहली दुर्लभ उपलब्धि बताई गई है मनुष्य तन की याने कि मनुष्य तन और जीवन बड़ी कठिनाई और पुण्यों की बड़ी कमाई से ही प्राप्त हो सकता है। इसके बाद श्रुति याने शास्त्रो का श्रवण, श्रद्धा एव सयम मे पराक्रम की उपलब्धियो का क्रम लिया गया है। इन चारो मे भी मनुष्य तन का इस कारण अधिक महत्त्व एव मूल्य है कि इसी के आधार पर बाकी के तीनो अगो को प्राप्त किया जा सकता है। मानव-तन इस प्रकार सर्वोच्च प्रगति का मूलाधार है।

मानव-तन का यही वैज्ञानिक महत्व है कि यही सम्पूर्ण प्रगति का सशक्त साधन है। सारी वैज्ञानिक प्रगति का भी यही तन आधार है। इसी तन की सहायता से मनुष्य भौतिक विज्ञान की विशाल उपलब्धिया प्राप्त करता है तो मानव तन मे ही महान् आध्यात्मिक उपलब्धिया प्राप्त करके वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता है। भौतिक विज्ञान की प्रगति के दुरुपयोग की बात अलग है, वरना यदि इस प्रगति का भी सर्व प्राणियो के हित की दृष्टि से स्वस्थ उपयोग किया जाय तो उससे भी आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त बनाया जा सकता है।

मिट्टी के तन में पवित्र मन

मानव-तन का जो मूल्याकन किया गया है, वह यथास्थान किया गया है। यथास्थान से तात्पर्य है कि आध्यात्मिक साधना मे इस तन का उपयोग होना चाहिये। अन्त करण की पवित्रता इसी जीवन मे प्राप्त की जा सकती है अत अगर इस तन मे पवित्र मन का निवास हो जाता है तो यह मानव-तन अमूल्य बन जाता है और अगर इस तन को पाकर भी मन की पवित्रता प्राप्त नहीं की तो यह अमूल्य तन मिट्टी के ढेले के मूल्य का भी नहीं रहता। इस मिट्टी के तन में पवित्र मन बन जाय तो यह मिट्टी का जहाज ससार-सागर को पार करा देता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ज्ञानियो ने जिस पद्धति से इस दुर्लभ मानवतन को अमूल्य बनाने का सकेत दिया है, उस पद्धति से यदि मानव समझने का प्रयास करे तथा इस विशिष्ट जीवन में विशिष्ट लब्धियो और उपलब्धियो को प्राप्त करने का सकल्प बनाले तो जिस प्रकार की दिव्य क्षमता इस मानव जीवन की है, उसके अनुसार वह सारी विशिष्टताओ को प्राप्त किये विना नहीं रहेगा। शान्ति और आनन्द के चरम स्वरूप की खोज भी इसी मानव-जीवन मे सम्भव हो सकती है। एक कवि ने जो सकेत दिया है कि शान्ति स्वरूप एने पामशे रे , उसका यही अर्थ है कि शान्ति का चिर स्वरूप इसी मानव जीवन मे अपनी उदात्त साधना के बल पर प्राप्त किया जा सकेगा। शान्ति का वह स्वरूप कैसा होता है-इसका सकेत आगमों

की गाथाओं में दिया गया है। उनमें यह भी बताया गया है कि आत्मा किस प्रकार शान्ति के स्वरूप को भावे यानि कि चिन्तन करे?

शान्ति के स्वरूप का चिन्तन करते समय शुद्ध प्रणिधान को धारण करना चाहिये। प्रणिधान के पहले शुद्ध विशेषण लगा हुआ है, परन्तु पहले देखे कि प्रणिधान किसे कहते हैं? शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार प्र उपसर्ग को अलग कर दें तो निधान शब्द रह जाता है। निधान का अर्थ होता है- निधि, खजाना या अनन्त शक्तियो का ऐसा पिण्ड जो अखूट हो। इस प्रकार का निधान जो प्रकाश रूप से प्राप्त करने के लिये सकल्पबद्ध होता है उसके लिये कहा जाता है कि उसने प्रणिधान किया है। ऐसा प्रणिधान अज्ञानी आत्मा भी विपरीत रूप मे कर सकती है अत उसके पहले शुद्ध विशेषण लगाया गया है।

अन्त करण की पवित्रता का निर्माण करने एव शान्ति के वास्तविक स्वरूप को हृदयगम करने के लिये ऐसे शुद्ध प्रणिधान की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि प्रणिधान को विपरीत दिशा में न जाने दिया जाय क्योंकि वैसी स्थिति में वह विकृत बनकर अशान्ति एव अशुभ कर्म बन्धन का कारण बन सकता है। यदि सही दिशा नहीं है तो आत्मा उस प्रणिधान को मलिन बनाती हुई सातवीं नरक के कष्ट-कुण्ड में भी गिर सकती है। जहा सही दिशा मे जाने पर यह मानव-तन अनुपम प्रगति का साधन बन सकता है, वहा इस तन का दुरुपयोग करके आत्मा दु खानुदु ख की स्थिति को भी प्राप्त कर लेती है। इसलिये प्रणिधान की शुद्धता का सदैव ध्यान रहना चाहिये। मिट्टी के तन मे पवित्र मन का निर्माण करके इस तन को अमूल्य बना देने का यही अभिप्राय है।

मूल्यांकन की विपरीतता

जिन आत्माओं ने इस मनुष्य तन एव जीवन का सही मूल्याकन नहीं किया है, वे इस तन को अपनी वासनाओं की पूर्ति का साधन मानकर चलती हैं। एक बार इस जीवन को वासनाओ के अधीन बना दिया तो फिर समझिये कि यह उनके पीछे अधी हो जायगी। फिर नीति-अनीति का कोई विवेक नहीं रहेगा। येन-केन प्रकारेण वासनाओं की पूर्ति ही जीवन का ध्येय बन जायगा। ऐसा ध्येय सभी प्रकार से मानव जीवन का अपव्यय ही करेगा। यह मानव- तन जो एक बहुत बड़ी शक्ति सिद्ध हो सकता है, मूल्याकन की विपरीतता के कारण नरक गमन का कारणभूत बन जाता है। ऐतिहासिक या धार्मिक कथाओ की दृष्टि से ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जहा इसी मूल्याकन की विपरीतता के कारण बड़े-बड़े व्यक्ति दुर्गति में चले गये।

देखिये, रावण ने भी एक तरह का प्रणिधान किया था और उसने पहले नीति का अवलम्बन लिया एव बाद में वह अनीति के साथ चल पड़ा। उसने अमूल्य मानव-तन एव जीवन का सदुपयोग नहीं किया। वासना के वशीभूत होकर उसने अपने जीवन के साथ खिलवाड़ किया तथा दूसरों के जीवन के साथ धोखा। साधारण रूप से यही समझा जाता है कि रावण ने महासती सीता के साथ धोखा किया, किन्तु वास्तविकता से देखें तो यह धोखा उसने अपनी

विज्ञान नही है। यह प्रत्यक्ष फल है। इस मानव-तन की महत्ता के सम्बन्ध मे पूर्व के महापुरुषों ने विशिष्ट बाते कही हैं तो उत्तराध्ययन सूत्र मे भगवान् महावीर ने उद्घोषणा की है कि-

चत्तारि परमगाणि, दुल्लहाणि य जन्तुणो।

मामुसत्त सुई सद्दा, सजमाम्मि या वीरय॥

अर्थात् प्राणियो के लिये चार अगो की उपलब्धि दुर्लभ है। इन चार अगो मे पहली दुर्लभ उपलब्धि बताई गई है मनुष्य तन की याने कि मनुष्य तन और जीवन बड़ी कठिनाई और पुण्यो की बड़ी कमाई से ही प्राप्त हो सकता है। इसके बाद श्रुति याने शास्त्रो का श्रवण, श्रद्धा एव सयम मे पराक्रम की उपलब्धियों का क्रम लिया गया है। इन चारो में भी मनुष्य तन का इस कारण अधिक महत्त्व एव मूल्य है कि इसी के आधार पर बाकी के तीनों अगो को प्राप्त किया जा सकता है। मानव-तन इस प्रकार सर्वोच्च प्रगति का मूलाधार है।

मानव-तन का यही वैज्ञानिक महत्व है कि यही सम्पूर्ण प्रगति का सशक्त साधन है। सारी वैज्ञानिक प्रगति का भी यही तन आधार है। इसी तन की सहायता से मनुष्य भौतिक विज्ञान की विशाल उपलब्धिया प्राप्त करता है तो मानव तन मे ही महान् आध्यात्मिक उपलब्धिया प्राप्त करके वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनता है। भौतिक विज्ञान की प्रगति के दुरुपयोग की बात अलग है, वरना यदि इस प्रगति का भी सर्व प्राणियों के हित की दृष्टि से स्वस्थ उपयोग किया जाय तो उससे भी आध्यात्मिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त बनाया जा सकता है।

मिट्टी के तन मे पवित्र मन

मानव-तन का जो मूल्याकन किया गया है, वह यथास्थान किया गया है। यथास्थान से तात्पर्य है कि आध्यात्मिक साधना मे इस तन का उपयोग होना चाहिये। अन्त करण की पवित्रता इसी जीवन मे प्राप्त की जा सकती है अत अगर इस तन मे पवित्र मन का निवास हो जाता है तो यह मानव-तन अमूल्य बन जाता है और अगर इस तन को पाकर भी मन की पवित्रता प्राप्त नहीं की तो यह अमूल्य तन मिट्टी के ढेले के मूल्य का भी नहीं रहता। इस मिट्टी के तन मे पवित्र मन बन जाय तो यह मिट्टी का जहाज ससार-सागर को पार करा देता है।

सर्वज्ञ और सर्वदर्शी ज्ञानियो ने जिस पद्धति से इस दुर्लभ मानवतन को अमूल्य बनाने का सकेत दिया है, उस पद्धति से यदि मानव समझने का प्रयास करे तथा इस विशिष्ट जीवन में विशिष्ट लब्धियो और उपलब्धियो को प्राप्त करने का सकल्प बनाले तो जिस प्रकार की दिव्य क्षमता इस मानव जीवन की है, उसके अनुसार वह सारी विशिष्टताओ को प्राप्त किये बिना नहीं रहेगा। शान्ति और आनन्द के चरम स्वरूप की खोज भी इसी मानव-जीवन मे सम्भव हो सकती है। एक कवि ने जो सकेत दिया है कि शान्ति स्वरूप एने पामशे रे , उसका यही अर्थ है कि शान्ति का चिर स्वरूप इसी मानव जीवन मे अपनी उदात्त साधना के बल पर प्राप्त किया जा सकेगा। शान्ति का वह स्वरूप कैसा होता है-इसका सकेत आगमो

की गाथाओं में दिया गया है। उनमें यह भी बताया गया है कि आत्मा किस प्रकार शान्ति के स्वरूप को भावे यानि कि चिन्तन करे?

शान्ति के स्वरूप का चिन्तन करते समय शुद्ध प्रणिधान को धारण करना चाहिये। प्रणिधान के पहले शुद्ध विशेषण लगा हुआ है, परन्तु पहले देखे कि प्रणिधान किसे कहते हैं? शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार प्र उपसर्ग को अलग कर दे तो निधान शब्द रह जाता है। निधान का अर्थ होता है- निधि, खजाना या अनन्त शक्तियों का ऐसा पिण्ड जो अखूट हो। इस प्रकार का निधान जो प्रकाश रूप से प्राप्त करने के लिये सकल्पबद्ध होता है उसके लिये कहा जाता है कि उसने प्रणिधान किया है। ऐसा प्रणिधान अज्ञानी आत्मा भी विपरीत रूप मे कर सकती है अत उसके पहले शुद्ध विशेषण लगाया गया है।

अन्त करण की पवित्रता का निर्माण करने एव शान्ति के वास्तविक स्वरूप को हृदयगम करने के लिये ऐसे शुद्ध प्रणिधान की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक होता है कि प्रणिधान को विपरीत दिशा मे न जाने दिया जाय क्योकि वैसी स्थिति मे वह विकृत बनकर अशान्ति एव अशुभ कर्म बन्धन का कारण बन सकता है। यदि सही दिशा नहीं है तो आत्मा उस प्रणिधान को मलिन बनाती हुई सातवीं नरक के कष्ट-कुण्ड में भी गिर सकती है। जहा सही दिशा में जाने पर यह मानव-तन अनुपम प्रगति का साधन बन सकता है, वहा इस तन का दुरुपयोग करके आत्मा दु खानुदु ख की स्थिति को भी प्राप्त कर लेती है। इसलिये प्रणिधान की शुद्धता का सदैव ध्यान रहना चाहिये। मिट्टी के तन मे पवित्र मन का निर्माण करके इस तन को अमूल्य बना देने का यही अभिप्राय है।

मूल्यांकन की विपरीतता

जिन आत्माओं ने इस मनुष्य तन एव जीवन का सही मूल्याकन नहीं किया है, वे इस तन को अपनी वासनाओ की पूर्ति का साधन मानकर चलती हैं। एक बार इस जीवन को वासनाओ के अधीन बना दिया तो फिर समझिये कि यह उनके पीछे अधी हो जायगी। फिर नीति-अनीति का कोई विवेक नहीं रहेगा। येन-केन प्रकारेण वासनाओ की पूर्ति ही जीवन का ध्येय बन जायगा। ऐसा ध्येय सभी प्रकार से मानव जीवन का अपव्यय ही करेगा। यह मानव- तन जो एक बहुत बड़ी शक्ति सिद्ध हो सकता है, मूल्याकन की विपरीतता के कारण नरक गमन का कारणभूत बन जाता है। ऐतिहासिक या धार्मिक कथाओं की दृष्टि से ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं, जहा इसी मूल्याकन की विपरीतता के कारण बड़े-बड़े व्यक्ति दुर्गति मे चले गये।

देखिये, रावण ने भी एक तरह का प्रणिधान किया था और उसने पहले नीति का अवलम्बन लिया एव बाद में वह अनीति के साथ चल पड़ा। उसने अमूल्य मानव-तन एव जीवन का सदुपयोग नहीं किया। वासना के वशीभूत होकर उसने अपने जीवन के साथ खिलवाड़ किया तथा दूसरों के जीवन के साथ धोखा। साधारण रूप से यही समझा जाता है कि रावण ने महासती सीता के साथ धोखा किया, किन्तु वास्तविकता से देखें तो यह धोखा उसने अपनी

ही आत्मा के साथ किया। यह सीता की प्रवचना नहीं थी, उसकी स्वय की प्रवचन थी। आन्तरिक रूप से सोचे तो उसने सीता को सकट मे नहीं डाला, बल्कि अपने कुकृत्य से स्वय ही सकट मे गिर गया।

यह मै एक दृष्टि से कथन कर रहा हू, पर एक ही बाजू को मत देखिये। दूसरी बाजू की तरफ भी देखिये। सीता की तो कसौटी हुई -उसके परीक्षण के क्षण आये। उसने भी आत्म-विश्वास एव हर्षपूर्वक परीक्षा दी तथा उसमे उत्तीर्ण रही। सीता की उन्नति का पथ सुरक्षित रहा। फिर कैसे कहे कि उसे धोखा हुआ ? उसको धोखा होना तो तब माना जाता जब वह रावण की भावना का अनुमोदन करती। रावण की भावना को यदि वह एक अश मे भी प्रश्रय दे देती तो अवश्य उसको धोखा होता और उसका वास्तविक जीवन खतरे मे पड़ जाता। परन्तु सीता ने तो रावण की तरफ अनुमोदन की भावना तक नहीं रखी तो उसके जीवन मे धोखे का प्रसग नहीं हुआ। जो उसके साथ धोखा होना कहा जाता है-यह तो साधारण जन की दृष्टि से है। वस्तुत तो सीता के शुद्ध जीवन का रूप और अधिक निखरा। आन्तरिक दृष्टि से देखे तो बहुत बड़ा धोखा रावण के साथ हुआ। उसने तपस्या के बल पर बहुमूल्य निधि प्राप्त की तथा प्रणिधान भी किया था किन्तु इस विपरीत मार्ग पर चलने के कारण वह इन सारी उपलब्धियो से हाथ धो बैठा। आप जानते होगे कि रावण ने अनेक प्रकार की वैज्ञानिक विद्याओ एव भौतिक शस्त्रास्त्रो की कलाओ का अभ्यास कर रखा था तथा अन्य शारीरिक उपलब्धिया भी प्राप्त की थी। यह सारी प्राप्ति उसके प्रणिधान की थी, किन्तु उसने प्राप्त उपलब्धियो से मानव जीवन को दुरुपयोग की धारा मे बहा दिया और मूल्याकन की विपरीतता के कारण न सिर्फ अपनी प्राप्त उपलब्धियो को ही खो बैठा, बल्कि अपने दुष्कृत्य के कुफल के रूप मे घोरतम यातनाओ को भोगने के लिये नरक मे भी पहुच गया।

प्रणिधान को शुद्ध बनावे

अपने प्रणिधान की शुद्धता को विकृत बना देने के कारण रावण जैसे वैज्ञानिक की भी जब ऐसी दुर्दशा हो गई तो आज के मानव को शान्ति के क्षणो मे बैठ कर सोचना चाहिये कि इस मानव जीवन की महान् उपलब्धि को सार्थक बनाने के लिये वह अपने प्रणिधान को शुद्ध बनाये रखे। किन्तु मानव जीवन की वर्तमान विदशा की ओर दृष्टिपात करे तो कई वक्त विचार होता है कि भारत जैसी पवित्र भूमि पर जन्म लेने वाली आत्माओ की ऐसी दयनीय दशा क्यो बनी हुई है?

विश्व के प्रागण मे आज सर्वत्र शान्ति का अभाव देखा जा रहा है और सभी क्षेत्रो मे ऐसी अशान्ति का कारण प्रणिधान को शुद्ध बनाये नहीं रख सकना तथा मानव जीवन का सही मूल्याक्न नहीं कर पाना है। इस अशान्ति से मानव जीवन ग्रस्त है। शारीरिक अशान्ति, मानसिक अशान्ति, आर्थिक अशान्ति, पारिवारिक अशान्ति और जीवन सम्बन्धी अनेक

अशान्तियों के घेरे में आज मानव की आत्मा तड़प रही है। किन्हीं अन्य देशो मे आर्थिक अशान्ति समाप्त की जा सकी है, और बताया जाता है कि वहा के राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन में नैतिकता और ईमानदारी है। वे अपनी समस्याओ को सुलझाते हैं तो निष्ठापूर्वक सर्वहित की दृष्टि से सुलझाते हैं। अपने जीवन को वे व्यापक तौर पर उपयोगी बनाते हैं। कई देश ऐसे भी हैं जहा आर्थिक अशान्ति नहीं है, किन्तु वहा मानसिक शान्ति भी नहीं आ सकी है। तो ये सब विभिन्न परिस्थितिया प्रणिधान की शुद्धता अथवा अशुद्धता के आधार पर निर्मित होती हें। प्रणिधान जितना शुद्ध होगा, उतने ही अश में जीवन के व्यापक हित की दिशा में सदुपयोग की निष्ठा रहेगी और वैसी अवस्था में कठिन से कठिन समस्याए भी-चाहे वे वैयक्तिक हों, पारिवारिक हों या सामाजिक अथवा राष्ट्रीय हों, सहज भाव से सुलझाई जा सकती हैं।

अशान्ति मे शान्ति कैसे अनुभवे

अशान्तिपूर्ण वातावरण में भी शान्ति का अनुभव किया जा सकता है यदि व्यक्ति अपने मन एव मस्तिष्क पर पूर्णतया नियन्त्रण रखे। यह नियत्रण जब नहीं रहता है, तभी वह कुछ भी विचार करता रहता है और उस अशान्त विचार के अनुसार मुह से कुछ भी निकाल देता है। मन-मस्तिष्क पर नियत्रण नहीं होता है तो वचन पर भी नियन्त्रण नहीं रहता ओर अपनी बोली के धधकते हुए अगारों से वह दूसरों को जलाता रहता हे एव इस प्रकार अशान्ति के वातावरण को घना बनाता रहता है। बोली के ये धधकते अगारे एक ओर अन्दर के कोमल जीवन को झुलसाते हैं तो दूसरी ओर बाहर के शरीर को भी जलाते और नष्ट करते हैं। सबसे पहले तो यह नष्ट होने की स्थिति उसी में होती है जिसका दुष्ट प्रणिधान होता है । मानव जीवन का विपरीत मूल्याकन करने वाला ऐसा व्यक्ति सोचता है कि वह उत्तेजना मे आकर जो मर्मकारी शब्दों का प्रयोग करता है, उनसे दूसरे के हृदय का भेदन करता है, किन्तु वह यह नहीं सोचता हे कि वचनों के अगारे बरसाने से उसकी स्वय की शान्ति ही पहले नष्ट होती है। वह स्वय में जलता है और उस जलन को दूसरो पर फैंकता हे। ऐसी स्थिति मे दूसरा भी जब उस जलन को जितने अशों में ग्रहण करता है तो वह भी उस रूप मे जल उठता है, लेकिन जो उस जलन को तनिक भी ग्रहण नही करता है तो वह अपनी शक्ति ओर शान्ति को बचा लेता हे। फैंके हुए अशान्ति के अगारो के बावजूद भी वह अपने जीवन में शान्ति का निरन्तर अनुभव करता रहता है।

इस मानसिक वृत्ति को गहराई से समझने की आवश्यकता है। बाहर से आप समझते हें कि अगर एक अपने पर बोली का प्रहार करता है तो ईट का जबाब पत्थर से देना ही चाहिये-यह सही नहीं है। एक अगारा जब घास मे गिरता हे तो भारी आग लगा देता हे, मगर वही अगारा पानी मे गिर जाय तो वह अगारा खुद ही खत्म हो जाता है। एक तरफ तो अगारा खुद जलता हुआ घास को भी जला देता है ओर दूसरी तरफ अगारा पानी का तो कुछ नहीं बिगाड सकता मगर खुद ही बुझ जाता हे। तो सोचिये कि आपके ऊपर कोई वचन का अगारा फेंके

तो घास बनना या पानी बन जाना। एक व्यक्ति के अगारे से दूसरा तभी जलता हे जब वह उसको घास बनकर ग्रहण करता है। जैसे चलते हुए किसी व्यक्ति ने दूसरे से कहा कि तेरा बाप चोर। तब वह व्यक्ति अपने मन मे सोचता है कि मेरा बाप तो साहूकार है- जिसका बाप चोर होगा उसको कहा होगा। उसको जब अन्दर मे विश्वास है तो वह जरा भी उत्तेजित नहीं होता और सोचता है कि मैं इसके वचन के अगारे को क्यो ग्रहण करू? तब सोचिये कि तेरा बाप चोर- ये अगारे स्वरूप शब्द वर्गणा के पुद्गल क्या उस शान्त स्वभावी को जला सकेगे? दूसरी ओर समझिये कि अगर वह इन शब्दो को पकड़ लेता हे तो उत्तेजित होकर कह उठेगा कि मेरा नहीं, तेरा बाप चोर है। कह देने से किसी का बाप चोर नहीं हो जाता, मगर घास बन जाने से एक की जलन दूसरे को भी जला देती है। दोनो ही अगारे बनकर जलने लगते हैं। अशान्ति के सामने आने पर भी शान्त व्यक्ति उसे निरर्थक कर देता है, किन्तु इस मानसिक वृत्ति के निर्माण के लिये प्रणिघान का शुद्ध बना रहना आवश्यक है।

शान्त मनोवृत्ति का निर्माण .

शुद्ध प्रणिधान के आधार पर शान्त मनोवृत्ति का निर्माण किया जा सकता है। इसके पीछे पहली भावना तो यह होनी चाहिये कि अशान्त बनने से अपनी स्वय की जो हानि होती है, उसे रोकी जा सके। व्यक्ति की मेधावी शक्ति के जो सूक्ष्म कोमल तन्तु होते हैं, वे मन-मस्तिष्क की अशान्ति से निष्क्रिय हो जाते हैं, क्योकि दूसरे की अशान्ति को ग्रहण कर लेने पर आर्त व रौद्र ध्यान के कारण बुद्धि और शक्ति की क्रियाशीलता मन्द पड़ने लगती है। यह सोचते-सोचते कि उसने ऐसा कह दिया, उसका वापिस बदला कैसे निकालू, मस्तिष्क की स्वाभाविक प्रक्रिया अवरुद्ध हो जाती है और स्वाभाविक विचारणा दाहकारी बन जाती है। किन्तु जो शान्त मनोवृत्ति का निर्माण कर लेता है, वह सामने आई हुई अशान्ति को ग्रहण नहीं करता है तो उसका कुछ भी नहीं बिगड़ता है। सीताजी अगर रावण के कुछ भी भावो को पकड़ लेती तो वह उस आग मे अवश्य जल जाती। उन्होने रावण के भावों को तनिक भी नहीं पकड़े और स्वय के भावो मे पूर्णत अविचल रही तो आग उनका कुछ नहीं बिगाड़ सकी।

जब प्रणिधान शुद्ध रहता है तो आत्म-विश्वास एव साहस भी अपूर्व बन जाता है। ऐसी अवस्था मे शान्ति के सामने अशान्ति हार खाती है और उस अशान्ति को आरम्भ करने वाला व्यक्ति ही उसकी आग मे जल उठता है। रावण ने जो कुछ किया, उसकी जलन से वही राख हुआ। आज सबको शान्त मनोवृत्ति के निर्माण के सम्बन्ध मे चिन्तन करना चाहिये और अशान्ति पैदा करने वाले स्वभाव को ससार एव धर्म के दोनो क्षेत्रो मे परिवर्तित करना चाहिये। धार्मिक क्षेत्र मे ही समझिये कि जब आप रोज अखूट शान्ति देने वाली वीतराग वाणी का श्रवण करते है, और पौषध व्रत लेते हैं फिर भी बात-बात पर मूछे तानने लगे तो क्या इसे ताडव नृत्य नहीं कहेगे?

यही [illegible] की स्थिति है कि उसका अशुद्ध प्रणिधान में चलकर [illegible] है और [illegible] बनी रहती है। इस अशुद्ध प्रणिधान में चलता हुआ मानव शान्ति का अनुभव नहीं कर सकता है। इस कारण मनुष्य को शब्दो की ज्वालाएं नहीं छोड़नी चाहिये और दूसरा छोड़ता हो तो उत्तेजना नहीं लानी चाहिये—अपनी शान्त मनोवृत्ति बनानी चाहिये जिससे समूचे वातावरण में शान्ति रहे।

सही दिशा मे शक्ति का नियोजन

मनुष्य के मन और मस्तिष्क में जब शान्ति कुछ स्थायित्व ग्रहण करती है तो उसका सबसे बडा लाभ यह होता है कि शक्ति का अपव्यय नहीं होता तथा उसका सही दिशा मे नियोजन होने के कारण व्यक्ति एव समाज दोनो के लिये विकासोन्मुख परिस्थितिया तैयार होती है। जीवन में जबशुद्ध प्रणिधान नहीं रहता तो सासारिक पवृत्तियो मे बिगाड़ और गिरावट आती है। भारत में आर्थिक दशा का डावाडोल होना क्या इसी तथ्य का सकेत नहीं है? मै कह रहा था कि विदेशों के लोग आर्थिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न क्यो है? इसमे अनेक कारण रहे होंगे किन्तु एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि विदेशो मे लोग व्यर्थ की बातो मे नहीं पड़ते, एक दूसरे को गिराने की कोशिश नहीं करते तथा नैतिकता के अपने सामान्य स्तर को बनाये रखते हैं, जब कि भारत मे इससे कुछ विपरीत मनोवृत्तिया ही लोगो मे काम करती रहती है। भारतवासियों की अधिकाश शक्ति इस तरह नष्ट हो जाती है।

शक्ति का सद्व्यय करें, या अपव्यय-शक्ति खर्च तो होती है। जो शक्ति को व्यर्थ की बातो में खर्च कर देते हैं तो वह दूसरे उपयोगी कार्यों में नियोजित नहीं हो पाती है और वे उपयोगी कार्य अपूर्ण रह जाने से विकास की गति रुक जाती है। आत्मा की मुख्य शक्ति लाभदायक विचारों और कार्यों में नियोजित नहीं हो सकने से अपव्यय के रूप मे निरर्थक हो जाती है। मस्तिष्क की सार शक्ति इस प्रकार अविवेक से व्यर्थ हो जाती है कई बार उस क्षति की पूर्ति भी सम्भव नहीं होती। वैज्ञानिकों का भी कथन है कि एक बार जो क्रोध किया जाता है उससे मस्तिष्क की विचार शक्ति मे अपूरणीय क्षति होती है। शरीर मे घाव हो जाय या हड्डी टूट जाय तो वह घाव भर सकता है तथा हड्डी जुड़ सकती है, लेकिन मस्तिष्क की क्षति पूरी नहीं की जा सकती है।

अपने शुद्ध प्रणिधान को खोकर ज्यों ही दूसरे के अशुद्ध प्रणिधान को पकड़ लेते है तो उन क्षणों में अशान्ति पैदा हो जाती है। कल्पना करे कि आध्यात्मिक दृष्टि से बड़ी बड़ी उपलब्धिया किसी आत्मा ने प्राप्त कर रखी हो किन्तु इस अशान्त दशा मे यदि आयुष्य का बन्ध हो जाय तो अन्य कर्मो से मनुष्य गति मे वह जाने लायक होगी तब भी पशु योनि मे चली जायगी। इस दुर्गति में ऐसा तपस्वी भी आ सकता है जो मासखमण की तपस्या करे तथा एक दिन पारणा करके फिर मासखमण पचक्ख ले, किन्तु दूसरे के शब्द रूपी अगारों पर अपने मन को अशुद्ध प्रणिधान मे पटक कर उसे अशान्त बनाले।

उत्तेजना से आत्मिक क्षति

इस सम्बन्ध मे एक तपस्वी मुनि का दृष्टान्त भी है। मास-मास खमण करने वाले एक तपस्वी मुनि अपने शिष्य को लेकर कहीं जा रहे थे। तपस्वी का शरीर कृश था, इस कारण रास्ते मे चलते हुए अचानक उनका पैर एक मरे हुए मेढक पर पड़ गया। पीछे-पीछे शिष्य चल रहा था तथा उसके मन मे आग चल रही थी। उसने सोचा कि गुरु जी मुझे बार-बार टोकते रहते है तो मुझे भी इनको टोकने का यह ठीक मौका मिला है। वे मेरे हर काम पर कहते रहते है कि यह साधु क्रिया के योग्य नहीं है सो अब मै भी कहूगा। मेढक के मुर्दा कलेवर पर पॉव पड़ते ही शिष्य पीछे से चिल्लाया-गुरु जी, गुरु जी, आपके पैर से मेढक मर गया है। गुरु जी तपस्वी थे, उन्होने पीछे मुड़कर देखा कि यह पैर तो पड़ा मगर उन्होने दूसरा पदार्थ समझ कर पैर दिया जो मुर्दा कलेवर था। मुर्दा कलेवर होने से पैर अचित पदार्थ पर ही पड़ा। शिष्य यह कैसे सहन करता, ईर्ष्यावश बोला-गुरु जी, आपका पैर पड़ा सो तो अचित पर पड़ा। अभी मेरा पड़ता तो मुझे टोक देते कि देखकर नहीं चलता है। यह मेढक आपके पैर से ही मरा है, आप प्रायश्चित करलो।

तो तपस्वी तपस्या कर रहे थे और अपने शरीर को सुखा रहे थे लेकिन अन्दर के प्रणिधान से शून्य थे। जितना बल, जितनी शक्ति उनकी अनशन तप मे लग रही थी, यदि उतनी ही शक्ति अन्दर के प्रणिधान मे सुव्यवस्थित रूप से लगती तो वह आत्मिक विकास कुछ और ही होता । किन्तु उनमे अन्दर के प्रणिधान की सज्ञा कमजोर रही। फिर भी जैसा प्रणिधान था, उस स्थिति मे वे उस समय खामोश रहे। फिर श्रावको के घर भिक्षा के लिये पहुचे तो शिष्य फिर उसी तरह चिल्लाने लगा कि गुरु जी पहले प्रायश्चित तो करलो। गुरु जी फिर खामोश रहे। दोनो वापिस अपने स्थान पर आ गये तो गुरु जी ने शिष्य को वास्तविकता समझाई, परन्तु शिष्य के मन मे तो आग भरी हुई थी, वह चाहता था कि गुरु जी उससे भस्मीभूत हो जाय। सायकाल प्रतिक्रमण के समय वह फिर कहने लगा-गुरु जी, प्रायश्चित लो। प्रत्याख्यान के समय फिर पूछा-आपने मेढक मारने का प्रायश्चित लिया या नहीं? अब तो तपस्वी जी की खामोशी टूट गयी। इस प्रकार बार-बार चिढाने से वे अपना सन्तुलन खो बेठे। शिष्य के शब्द रूपी अगारो को पकड़ कर वे भी जलते हुए उत्तेजनापूर्वक बोले-अरे दुष्ट, तू मुझको ऐसा कहता हे?

वस फिर क्या था? शिष्य तो अगारे फैंक ही रहा था-जब तक तपस्वी जी उन्हे नहीं पकड़ रहे थे तब तक तो उनका कुछ नहीं विगड़ा। लेकिन जब अगारो को उन्होने पकड़ लिया तो वे आवेश से उत्तेजित हो गये ओर शिष्य को दण्ड देने के लिये ऊपर कवेलु की छत मे से लकडी का डण्डा निकालने के लिये उठे। कवेलु की छत लकड़ी के डण्डो व वासो पर बनी हुई होती ह। आवेश के कारण ध्यान नहीं रहा ओर तपस्वी जी का सिर थम्भे से टकरा कर फूट गया तथा उनका वहीं प्राणान्त हो गया। वे शिष्य को तो दण्ड नहीं दे सके किन्तु उसकी

लगाई हुई आग में खुद ही झुलस गये। जब मृत्यु हुई तो उनकी परिणाम धारा कषाय की आग में जल रही थी।

उत्तेजना मे उनकी कितनी आत्मिक क्षति हुई कि वे मर कर चण्डकौशिक सर्प बने जिसका भगवान् महावीर के हाथों उद्धार हुआ। कहा तपस्वी जी का मनुष्य जीवन और कितनी महान् उपलब्धि-लेकिन उनका अशुद्ध प्रणिधान के साथ प्रयोग करने से कितनी बड़ी दुर्गति हुई? जीवन भर कमाई हुई सारी तपस्या उस उत्तेजना मे भस्मीभूत हो गई।

मृदुता जीवन का गुण बन जाय

जिस प्रकार क्षणिक क्रोध और उत्तेजना जीवन भर की उपलब्धि को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार विचार एव व्यवहार की मृदुता एक नहीं, कई जीवनो को शान्त बनाये रखती है। जहरीले विचारो को, जहरीले वचनों को और जहरीले व्यवहार को पकड़ो मत, क्योकि पकड़ने से उनकी जहरीली आग अपने भीतर प्रवेश कर जाती है। जब एक बार की उत्तेजना ही तपस्वी के जीवन को चण्डकौशिक सर्प के जीवन मे बदल सकती है तो उन लोगो को सोचना चाहिये कि उनकी क्या गति होगी जो बात-बात मे ऐसी आग लगाते रहते हैं।

गहराई से सोचे तो वर्तमान जन-जीवन इसी आग मे झुलस रहा है। इसी कारण लोग समाज मे भी शान्ति की धारा नहीं ला सकते हैं तो राष्ट्रीय धरातल पर भी वातावरण मे शान्ति नही रख सकते हैं। ऐसे लोग आर्थिक समस्याओ को हल करने मे तो ओर भी अधिक पिछड जाते हें। सभी स्थानो पर उपयुक्त वातावरण के लिये शान्ति की अपेक्षा रहती है। आप अपने व्यापार को ही देखें-शान्त मस्तिष्क से वह जितनी सफलता पाता है उतनी क्रूर एव अशान्त दृष्टि से नहीं। दूकानदार दूकान पर बेठा है और कोई राह चलता उसे गाली देता हे, उसे छेड़ता है तो क्या वह उठ कर उसके पीछे दौड़ता है या अपने ग्राहको को पटाता हे? वह अपनी धुन मे रहता है ओर मिठास से काम करता है। यह आर्थिक क्षेत्र की वात हे किन्तु सभी क्षेत्रो में यदि मनुष्य मृदुता को अपने जीवन का गुण बना ले तो वह अपनी शान्ति को सर्वत्र बनाये रख सकता है।

सभ्यता से शक्ति की रक्षा

मृदुता ओर शान्ति से जीवन मे एक सोजन्यपूर्ण शिष्टता एव सभ्यता का समावेश हाता है जो जितना सभ्य होता है, वह अपनी शक्ति की अधिक से अधिक रक्षा करता हे-उसका तनिक भी व्यर्थ व्यय नहीं करता हे। विदेशों से आने वाले लोग कितनी शिष्टता आर सभ्यता का प्रदर्शन करते हैं? वे धीरे से शान्ति से वचनो का पयोग करते हें। वे सोचते हें कि कहीं हमारी ज्यादा शक्ति खर्च न हो जाय। मैंने स्वय ने इस तथ्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया ह। जब युगद्रष्टा आचार्य श्री जवाहरलाल जी म सा बाठिया-हाल मे विराज रहे थे तब एक अंग्रेज उनके पास आते थे। वे बहुत ही धीरे से बोलते थे-जसे उनके सिर्फ होंठ ही हिल रहे हो। उन्हें कुछ झुकाम था लेकिन शिष्टता इतनी थी कि बराबर कपड़ा रखते आर श्लेष्म [illegible]

एक छींटा भी इधर-उधर नहीं गिराते थे। कहने को अग्रेजो को लोग अनार्य कह देते हे लेकिन उनके जीवन का भी अपना मूल्याकन हे। उनके जीवन मे जो शान्ति, शिष्टता ओर सभ्यता दिखाई देती है, इन गुणो की उनसे ले सकते हे।

शिष्टता और सभ्यता को भली प्रकार जीवन मे उतारने से शक्तियो का अपव्यय रुक जायगा तथा वे सचित शक्तिया जीवन को अधिक सुदृढ वनावेगी।

दुर्लभ मानव-जीवन का सदुपयोग करे

अपने प्रणिधान को शुद्ध एव शान्त वनाने की दृष्टि से सोचे कि में अपनी शक्ति को व्यर्थ की बातो मे व्यय न करू। मुझे तो अपनी गति से जाना हे-दुनिया मेरी प्रशसा करे या निन्दा-उससे सही रूप मे प्रभावित होना है। अगर वास्तविक निन्दा हो रही हे तो अपनी त्रुटियो को निकाल कर जीवन को स्वच्छ बनाऊ ओर झूठी निन्दा हे तो उस ओर ध्यान ही न दू। प्रशसा हो तो उन गुणो को प्राप्त या अभिवृद्ध करने का प्रयास करू। प्रत्येक परिस्थिति मे अपनी शान्ति को बनाये रखू।

यदि ऐसा शुद्ध प्रणिधान स्थायी रूप से बन जाता है तो यह दुर्लभ मानव जीवन सार्थक बन सकता है। मनुष्य तन मिला है तो मनुष्यता तो आनी ही चाहिये। शुद्ध प्रणिधान रहे तो देवत्व भी दूर नहीं रहता है।

गगाशहर-भोनासर

दि० २१-११-७३

9

प्रणिधान एवं अनशन तप

* आध्यात्मिक ऊर्जा जीवन के अन्तरग रहस्यो को खोज करती हुई अन्त करण की गहराइयो में सच्ची शाति का सचार करती है ।

* आत्म-कल्याण का विशाल प्रासाद शुद्ध प्रणिधान की आधारशिला पर ही निर्मित किया जा सकता है।

* मन, वचन और काया की शक्ति पर जब नियत्रण एव सयम सधता है, तभी अनशन तप की सफल आराधना होती है। तब फिर आत्म-नियत्रण होता है ।

* सही ज्ञान, श्रद्धा और आचरण के साथ अनशन है, तभी सच्चा तप बनता है ।

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्ति का स्वरूप समझ लेने के पश्चात् जब तक साधक शान्ति को प्राप्त करने की विधि नहीं समझता है, तब तक वह शान्ति को अपने जीवन में स्थायी रूप नहीं दे सकता है। प्रार्थना की पक्तियों में यही कहा गया है कि-

शान्ति स्वरूप एम भाव रो

धरी शुद्ध प्रणिधान रे

अर्थात् शान्ति के वास्तविक रूप पर चिन्तन तभी होगा जब पहले शुद्ध प्रणिधान को धारण किया जायगा। अत शान्ति के स्वरूप को ध्याते हुए यदि उसको अपने जीवन मे समाहित करनी है तो पहले शुद्ध प्रणिधान को अगीकार करो। शुद्ध प्रणिधान को धारण करता हुआ ही आत्मा शान्ति के समग्र रूप को अपने जीवन के समग्र अगों मे समग्र शक्ति के साथ व्यक्त कर सकती है। किन्तु यदि प्रणिधान की शुद्धता वहा नहीं है तो वैसी आत्मा शान्ति को आच्छादित ही करती है, उसे व्यक्त नहीं कर सकती है।

पणिधान दो प्रकार से बनता है-एक शुद्ध प्रणिधान तो दूसरा अशुद्ध प्रणिधान। शुद्ध पणिधान की स्थिति में आत्मा विकास की उचतम श्रेणियों तक पहुच सकती है, वहा अशुद्ध प्रणिधान जीवन की सारी शक्तियों एव उपलब्धियों का हास करता है। इससे जीवनी-शक्ति दवती है। इस क्रम मे आत्मा उस स्तर तक भी नीचे पतित हो सकती है, जहा मनुष्यता एव मनुष्य जीवन का भी अस्तित्व नहीं रहे। इस जीवन में तो उसका आन्तरिक पतन होता ही है किन्तु उसका वैसा पतन उसके जन्म-मरण के परिभ्रमण को भी वढा सकता है। शुद्ध प्रणिधान की तरफ आत्मा का विकास होने पर वह अन्ततोगत्वा चरम सीमा की चिर शान्ति पाप्त करती है एव परम आल्हादित होती हुई विशुद्ध अन्तरानन्द का अनुभव करती है। जो कुछ भी उस परम शान्ति एव आनन्द की स्थिति का प्रसग है, वह प्रणिधान की शुद्धता पर ही निर्भर करता है।

प्रणिधान की परिभाषा एवं प्रकार

प्रणिधान का तात्पर्य ऐसे तो परम निधान लिया गया ह। प्रकर्प उत्कृष्ट व सर्वश्रेष्ठ जो निधान है शक्ति की दृष्टि से वह पणिधान कहा गया हैं। इसमें शक्ति दो तरह की होती ह-एक भौतिक पदार्थो की और दूसरी आध्यात्मिक स्वरूप की शक्ति।

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्ति का स्वरूप समझ लेने के पश्चात् जब तक साधक शान्ति को प्राप्त करने की विधि नहीं समझता है, तब तक वह शान्ति को अपने जीवन में स्थायी रूप नहीं दे सकता है। प्रार्थना की पक्तियों में यही कहा गया है कि-

शान्ति स्वरूप एम भाव रो

धरी शुद्ध प्रणिधान रे

अर्थात् शान्ति के वास्तविक रूप पर चिन्तन तभी होगा जब पहले शुद्ध प्रणिधान को धारण किया जायगा। अत शान्ति के स्वरूप को ध्याते हुए यदि उसको अपने जीवन मे समाहित करनी है तो पहले शुद्ध प्रणिधान को अगीकार करो। शुद्ध प्रणिधान को धारण करता हुआ ही आत्मा शान्ति के समग्र रूप को अपने जीवन के समग्र अगों मे समग्र शक्ति के साथ व्यक्त कर सकती है। किन्तु यदि प्रणिधान की शुद्धता वहा नहीं है तो वैसी आत्मा शान्ति को आच्छादित ही करती है, उसे व्यक्त नहीं कर सकती है।

प्रणिधान दो प्रकार से बनता है-एक शुद्ध प्रणिधान तो दूसरा अशुद्ध प्रणिधान। शुद्ध प्रणिधान की स्थिति मे आत्मा विकास की उच्चतम श्रेणियों तक पहुच सकती है, वहा अशुद्ध प्रणिधान जीवन की सारी शक्तियों एव उपलब्धियों का ह्रास करता है। इससे जीवनी-शक्ति दबती है। इस क्रम में आत्मा उस स्तर तक भी नीचे पतित हो सकती है, जहा मनुष्यता एव मनुष्य जीवन का भी अस्तित्व नहीं रहे। इस जीवन मे तो उसका आन्तरिक पतन होता ही है किन्तु उसका वैसा पतन उसके जन्म-मरण के परिभ्रमण को भी बढ़ा सकता है। शुद्ध प्रणिधान की तरफ आत्मा का विकास होने पर वह अन्ततोगत्वा चरम सीमा की चिर शान्ति प्राप्त करती है एव परम आल्हादित होती हुई विशुद्ध अन्तरानन्द का अनुभव करती है। जो कुछ भी उस परम शान्ति एव आनन्द की स्थिति का प्रसग है, वह प्रणिधान की शुद्धता पर ही निर्भर करता है।

प्रणिधान की परिभाषा एव प्रकार

प्रणिधान का तात्पर्य ऐसे तो परम निधान लिया गया है। प्रकर्ष, उत्कृष्ट व सर्वश्रेष्ठ जो निधान है शक्ति की दृष्टि से वह प्रणिधान कहा गया हैं। इसमें शक्ति दो तरह की होती है-एक शक्ति भौतिक पदार्थों की और दूसरी आध्यात्मिक स्वरूप की शक्ति।

जो भौतिक पदार्थों की शक्ति है उसकी ऊर्जा की स्थिति को भी मनुष्य सचित करता है और उसके माध्यम से वह ससार को कुछ न कुछ सहायता पहुचाने की चेष्टा करता है।

जबकि आध्यात्मिक प्रणिधान के साथ वह आध्यात्मिक ऊर्जा को सचित करके एव उस ऊर्जा को विस्तृत बना कर सम्पूर्ण ससार के समस्त प्राणियो को अत्यधिक लाभ पहुचा सकता है। भौतिक ऊर्जा सिर्फ बाह्य स्वरूप को लाभ पहुचाती हे तो आध्यात्मिक ऊर्जा जीवन के अन्तरग रहस्यो को खोजती हुई अन्त करण की गहराइयो मे सच्ची शान्ति का सचार करती है। इस ऊर्जा के प्रवाह को जितनी अधिक मात्रा मे सचित किया जा सके-इसे जितना अधिक शक्तिशाली बनाया जा सके, उतना ही प्रणिधान की शुद्धता का स्वरूप निखरता जायगा।

आप सोचिये कि इन्जीनियर वगैरा मिल कर एक वहुत बड़ा वाध वनाते हे ओर उस पर पॉवर हाऊस भी बनाते है जहा बिजली की शक्ति का उत्पादन भी होता हे तथा उसका सचय भी किया जाता है। यद्यपि पानी के वेग की प्रक्रिया से बिजली पैदा की जाती हे, किन्तु जब उसका पॉवर हाऊस मे सचय किया जाता हे तो उसके वितरण पर भी नियन्त्रण होता है जितने पॉवर के साथ उसका वितरण करना हो वह किया जा सकता है। विद्युत् वेग पूर्ण सशक्त धारा मे भी प्रवाहित किया जा सकता है तो उसे मन्द धारा मे भी बहा सकते हैं। उस प्रवाहमान बिजली का नाप भी होता है। जब बिजली फुल पॉवर मे जा रही हो और उसके खुले तारो से मजबूत पदार्थ भी छू जाय तो वह जल उठता है। मनुष्य या अन्य प्राणी भी यदि बिजली की करेन्ट से प्रभावित हो जाय तो उसका प्राणान्त हो जाता है। परन्तु यदि वह लकड़ी के पाटिये पर खड़ा हो या बचाव के अन्य साधनो का प्रयोग कर ले तो विद्युत् वेग का स्पर्श भी कर लेता है। इस पर भी पॉवर का वाल्टेज अगर बहुत अधिक हो तो साधनो की सहायता से भी विद्युत वेग का स्पर्श सम्भव नहीं हो सकता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जहा भौतिक दृष्टि से ऐसे शक्तिशाली विद्युत् वेग पर भी नियन्त्रण रखा जा सकता है जो पल भर मे किसी को भी भस्मीभूत कर देता है। उसके प्रवाह पर ही नियन्त्रण नहीं होता, बल्कि उसके सचय एव वितरण पर भी नियन्त्रण होता है कि उसके प्रवाह को इनके जरिये इच्छानुसार या आवश्यकतानुसार तीव्र और मन्द भी बताया जा सकता है। उसी प्रकार आध्यात्मिक शक्ति का विद्युत् वेग भी अत्यन्त प्रभावशाली होता है और उसे शुद्ध प्रणिधान से नियन्त्रित करना पड़ता है।

आध्यात्मिक शक्ति का विद्युत वेग

यद्यपि आध्यात्मिक शक्ति अपार होती है, किन्तु समझने की दृष्टि से उसकी विद्युत् वेग से तुलना की गई है। जैसे बिजली की शक्ति के साथ दोनो प्रकार की स्थितिया है कि विवेक के साथ उसका उपयोग होता है तो वह उद्योगो को चलाती है, कृषि उत्पादन बढाती है, प्रकाश एव अन्य सुविधाए उपलब्ध कराती है। उसका निरर्थक उपयोग किया जाय तो उसे व्यर्थ मे छोड़ कर बरबाद की जा सकती है तथा उसका दुरुपयोग हो तो वह- महा- विनाश का दृश्य उपस्थित कर सकती है। इसी प्रकार आध्यात्मिक शक्ति को प्राप्त करने की स्थिति

है तो उसके उपयोग की भी स्थिति है। आध्यात्मिक शक्ति की उपलब्धि मे और उसके उपयोग म श्रेष्ठता प्रणिधान की शुद्धता पर आधारित रहती है।

आध्यात्मिक शक्ति का अपनी साधना के बल पर मनुष्य जितना भी सचय करना चाहे कर सकता है। भौतिक शक्ति के सचय की तो फिर भी सीमा है, किन्तु आध्यात्मिक शक्ति की उपलब्धि तो असीम होती है। इस शक्ति का प्रयोग यदि शुद्ध प्रणिधान के साथ किया जाता है तो स्थायी एव चरम शान्ति प्राप्त की जा सकती है। इसी शक्ति का अगर कोई दुरुपयोग करे तो ससार म भारी अशान्ति पैदा हो सकती है। जब भौतिक शक्ति के माध्यम से ही सम्पूर्ण ससार को विनाश की कगार पर ले जाने वाले बड़े-बड़े आयुधो एव अणु-परमाणु बमो का आविष्कार किया जाता है तो इन सारे आविष्कारो को जन्म देने वाली आत्मा जब अपनी ही सचित शक्ति का दुरुपयोग के जरिये विस्फोट करे तो कल्पना कीजिये कि वह कितना भयावह और खतरनाक हो सकता है? इस तुलना मे हम सबके लिये विचारणीय तथ्य यह है कि क्या भारी मेगाटन शक्ति वाले अणु-परमाणु बम अशान्तिकारक ह अथवा स्वय आत्मा की शक्ति अशान्तिकारक है?

यदि आप गहराई से विचार करेगे तो पता चलेगा कि ऐसी भयावह एव अशान्तिकारक भौतिक शक्ति को पैदा करने वाली महती शक्ति स्वय आत्मा है। भौतिक विज्ञान के क्षेत्र मे विभिन्न प्रयोग करने वाली तथा उन प्रयोगो को सफलता की सीढी पर चढाने वाली भी यही आत्मा है। आत्मिक शक्ति का ही प्रवाह है जो इन सारी शक्तियो को अपने नियन्त्रण म रखकर मनुष्य-समाज को शान्ति-लाभ का अवसर प्रदान कर सकता है और यदि नियन्त्रण करने वाला आत्म-प्रवाह अविवेक की धारा मे बहता है तो वही सारे ससार को अशान्ति म डुबोकर विनाश की ओर भी धकेल सकता है। अत वास्तव में आज ससार जिस स्थिति स भय खा रहा है, वह स्थिति और शक्ति बड़े-बड़े आयुधों तथा अणु-परमाणु बमो की नहीं ह बल्कि उन्हे सचित करने वाली आत्माओ की है जो अपने अशुद्ध प्रणिधान से ससार के समक्ष सर्वविनाश का सकट खडा करती है।

मूल मे सर्वत्र यह आत्मिक शक्ति ही व्याप्त है। यदि आत्माचेतना शक्ति का प्रयोग नहीं होता तो क्या वैज्ञानिक प्रयोग सफल हो सकते थे और क्या ऐसे बड़े-बडे आयुधो का आविष्कार सम्भव था? आत्मा जब अपने पुरुषार्थ से इस दिशा मे कार्यरत बनी तभी तो ये सारे आविष्कार [illegible] हुए। इनके पीछे अशुद्ध प्रणिधान भी कारणभूत है क्योकि इसी की वजह से आत्मा अपने [illegible]-प्रवाह को दुरुपयोग की दिशा मे मोड रही है। इसी कारण आत्म-शक्ति या आध्यात्मिक [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] अशान्ति पैदा करने वाला बना हुआ है।

अशुद्ध प्रणिधान का कुफल

मे परिवर्तन होता रहा है। भगवान् महावीर के समय मे आत्मिक शक्ति अधिकाशत शुद्ध प्रणिधान के साथ क्रियाशील रहती थी तो उसमें आभ्यन्तर एव वाह्य नियन्त्रण की भी अपूर्व क्षमता होती थी जिससे जड़ या भौतिक शक्ति अनियन्त्रित नहीं वन पाती थी। उस समय लोगो मे आत्मीयता थी तथा वे अपनी आत्म-शक्ति को भी निरर्थक रूप से प्रकट नहीं करते थे।

किन्तु धीरे-धीरे ज्यो-ज्यो प्रणिधान की शुद्धता कम होती गई तथा अशुद्धता बढती गई तो प्राप्त और सचित भौतिक ऊर्जा के दुरुपयोग की मनोवृत्ति इस आत्मा मे पैदा होने लगी। शुद्ध प्रणिधान के समय शक्ति के प्रयोग का लक्ष्य सर्वहित होता है तो उसमे विवाद या सघर्ष की गुजाइश नहीं होती, लेकिन प्रणिधान की अशुद्धता से दृष्टिकोण सकुचित होता चला जाता है और सर्वहित के स्थान पर स्वार्थ ही प्रमुख बन जाता हे। जहा स्वार्थ प्रमुख बनता है, वहा सभी प्रकार की हिसा-प्रतिहिसा एव विकार भी मनुष्य के विचार और व्यवहार मे प्रवेश कर जाते है। वैसी अवस्था मे उस शक्ति प्रयोग का ध्येय अपने स्वार्थो की रक्षा और दूसरो के हितो का विनाश बन जाता है।

आज चारो ओर जो भय, आतक और अशान्ति का वातावरण दिखाई देता है, वह इसी प्रकार के अशुद्ध प्रणिधान का कुफल है। आत्मा जब अपनी प्रणिधान की शक्ति को भौतिक ऊर्जा से सम्बन्धित करती है, तभी प्रयोग के पश्चात् प्रभावकारी प्रतिफल प्रकट होता है। इस प्रयोग और फल का कर्त्ता आत्म-शक्ति का प्रवाह ही होता है जो अशान्ति का वायु मण्डल तैयार कर देता है। भौतिक ऊर्जा का रचयिता आत्म-बल अशुद्ध प्रणिधान के प्रभाव से ही विनाशकारी शस्त्रास्त्रो का निर्माता बनता है।

यह प्रणिधान अर्थात् मन, वचन और काया अशुद्ध इस कारण कहलाता है कि वह अविवेक के साथ होता है। विवेक नहीं होता है तो उस कार्य का कोई लक्ष्य नहीं बनता है और लक्ष्यहीन प्रणिधान अशुद्ध तो होगा ही किन्तु सक्रिय रहने पर भयावह और विनाशकारी भी बनेगा। अशुद्ध प्रणिधान उच्छृकल और अनुशासनहीन होता है, अत वह दुनिया को तबाह करने वाला ही बनता है। अशुद्ध प्रणिधान की दशा मे आत्मा की नियन्त्रिक शक्ति कमजोर हो जाती है और भौतिकता आध्यात्मिकता पर शासन करने लग जाती है-इस कारण अशुद्ध प्रणिधान के कुफल पर रोक लगाने वाली शक्ति का अभाव हो जाता है। चेतना शक्ति की प्रमुखता टूटने पर ही विवेक का साथ छूटता है और अविवेक के आने पर अशुद्ध प्रणिधान अधिक अन्धा और पागल बन जाता है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अशान्ति की विषैली वायु को प्रवाहित करता है।

विवेक से नियन्त्रण और विकास

जब विवेक की स्थिति मे आत्मा अपनी आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रयोग शान्ति लाभ के लक्ष्य से करती है तो उससे वह अपनी भौतिक ऊर्जा पर भी भरपूर नियत्रण रखती है। इस

प्रकार विवेकशील प्रयोग एव नियन्त्रण की दशा में सारी ऊर्जा शक्ति को सही दिशा में म कर कार्यरत रखने की चेष्टा की जाती है। ऊर्जा विनाश के रास्ते पर चले या विकास के म पर आगे बढ़े-उसकी शक्ति का व्यय तो वैसा ही है किन्तु उसकी गति को सही मोड़ देने लिये अगर विवेकी मार्गदर्शक मिल जाय तो वह उसके प्रवाह को विनाश के रास्ते पर न चलने देगा। कई आत्माओ में सुषुप्त अवस्था होती है किन्तु हठवाद नहीं होता है-यदि ऐ आत्माओं को सही मार्ग बताने वाला कोई मिल जाय तो उनके विवेक को जागृत बनाया सकता है तथा उनकी ऊर्जा शक्ति को विकास के पथ पर सक्रियता प्रदान की जा सकती ऐसी आत्माए भी होती हैं जो एक सच्चा पथ-प्रदर्शक पाने की जिज्ञासा भी रखती है। वे जिज्ञा वृत्ति से आध्यात्मिक दृष्टि को समझने की तैयारी भी रखती है।

किन्तु जब उन्हें अपने विवेक से अशुद्ध प्रणिधान पर नियन्त्रण रखना एव विकास मार्ग पर आगे बढ़ना कोई सिखाता नहीं तो वे मुख्य रूप से भौतिक विज्ञान की ओर च जाती है। तब प्रणिधान तो रहता है, मगर अशुद्ध रहता है। विवेक के साथ में प्रणिधान अगर बराबर नियन्त्रण रहे तो वही आत्मिक शक्ति विकसित होकर अपने दिव्य स्वरूप अभिव्यक्त करती है। यह अभिव्यक्ति अनिर्वचनीय होती है।

शुद्ध प्रणिधान से आगे की सीढिय

यह अनिर्वचनीय अभिव्यक्ति कैसे प्रकट हो? इसके लिये इन्सान को सही स्थिति अपन पड़गी। जो भी आत्मा स्थायी शान्ति चाहती है और स्थायी शान्ति को ससार में वित करना चाहती है तो उसको शुद्ध प्रणिधान का निरन्तर ध्यान रखना होगा। इससे उसकी ः से पहले समता आवगी। समता की अवस्था सुदृढ बनने के बाद श्रुतज्ञान का प्रवेश हो श्रुत ज्ञान की सहायता से श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म की खरी-खरी पहिचान सभव हो सक जब श्रुत धर्म एव चारित्र धर्म को आत्मा अपने साथ सम्बन्धित करके उससे आन्तरि ऊर्जा को प्रकट करने मे अवश्य ही प्रयत्नशील बनेगी तो उन प्रयत्नों से ऊर्जा उत्पादित होगी और सचित भी। यह उत्पादन और सचय अपने-अपने प्रयत्न और पुरुषार्थ के परिम से होता है।

शुद्ध प्रणिधान की शक्ति को जागृत कैसे बनाई जाय-इस ओर सबसे पहले सतर्क दृष्टि जानी चाहिये। वैसे आत्म-कल्याण को चरम मोक्ष माना गया हे और मोक्ष-प्राप्ति के तीन मुख्य साधन माने गये है-सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र। ये तो मुख्याधार है, किन्तु उपाधार कई है और इनमे तप आदि भी है। इनसे भी अधिक गहराई पर जो आधार है, वह आधार होता है शुद्ध प्रणिधान का। विविध विपयो पर चिन्तन किया जाय तो स्पष्ट होगा कि आत्म-कल्याण का विशाल प्रासाद शुद्ध प्रणिधान की आधारशिला पर ही निर्मित किया जा सकता है। फिर आगे की सीढियो के रूप मे कई उपाय और कई साधनो का आत्म-कल्याण के मार्ग मे समावेश होता है।

तप की महत्त्वपूर्ण सीढी

कई भाई कह बैठते है कि जब सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र मोक्ष के मार्ग हैं तो तपाराधन की क्या आवश्यकता है? तप करके व्यर्थ मे शरीर को कष्टित करना हे और इस कष्ट की बात को लेकर वे तप के महत्त्व को ओझल करने की कोशिश करते है। इसका अर्थ यह है कि उन्होने तप के महत्व को भली भाति हृदयगम नहीं किया हे और यह नहीं समझा है कि सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र के साथ तप का कैसा और कितना अभिन्न सम्बन्ध है ?

सक्षेप मे मै यहा इस सन्दर्भ मे इतना ही कहना चाहूगा कि तप एक आध्यात्मिक पुरुषार्थ है तथा इससे आत्मा के शुद्ध स्वरूप मे निखार पैदा होता है। मुख्य तो शुद्ध प्रणिधान की तप एक महत्वपूर्ण सीढी होती है। तप का तात्पर्य शारीरिक उपवास, बेला, तेला आदि करना मात्र ही नहीं है। यह तो बारह प्रकार के तप मे से सिर्फ एक प्रकार है। भगवान् ने बारह प्रकार के जो तप बताये है, उसमे पहले क्रम पर अनशन तप है जिसके अन्तर्पेटे मे उपवास, बेला, तेला आदि तप आते है। अनशन तप मे चाहे मासखमण करो या इससे भी अधिक-किन्तु इस प्रकार का तप करने मे तपस्वी को मन की शक्ति तो लगानी ही पड़ती है तथा शरीर के बल का भी उसमे व्यय होता है। तपाराधन के समय मे वाचिक शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि शरीर से सम्बन्धित अनशन तप मे भी मन और वचन को भी उसी रूप मे नियन्त्रित एव आत्मानुशासित रखना चाहिये। मन, वचन और काया-इन तीनो की शक्ति पर जब नियन्त्रण एव सयम सधता है तभी अनशन तप का भी सफल आराधन कहा जा सकता है और तभी आत्म-नियन्त्रण की भी स्थिति सुदृढ़ बनती है।

इसलिये अनशन तप को भी मामूली न समझे। अनशन तप का भी आन्तरिक अभिप्राय यही होता है कि आत्मा की सम्पूर्ण वृत्तियो एव प्रवृत्तियो पर गलत दिशा मे जाने से अकुश लगे और सही दिशा मे क्रियाशील होने का दबाव पड़े। इस रूप मे तप शुद्ध प्रणिधान को बनाये रखने मे विशिष्ट रूप से सहायता करता है।

अनशन का आन्तरिक अर्थ

जिस आत्मा की रुचि पाचों इन्द्रियो के विषयों की ओर जा रही है तो उनकी पुष्टि के लिये वह व्यक्ति बराबर भोजन करना चाहता है-एक वक्त भी भूखा रहना नहीं चाहता है। वह सोचता है कि मैं भूखा रह जाऊगा तो मेरी शक्ति घट जायगी। किन्तु जो व्यक्ति यह सोचता है कि पाचों इन्द्रियों के पोषण में मानव जीवन की सची सार्थकता नहीं है बल्कि आत्मस्वरूप को उज्ज्वल बनाने मे पुरुषार्थ लगाना चाहिये, वही व्यक्ति अनशन तप मे उपवास आदि करने का निश्चय करता है। वह ख्याल करता है कि मैं दिन मे तीन चार वक्त खाता हू सो मेरे से उपवास कैसे होगा? लेकिन वह निश्चयपूर्वक अपने पर नियन्त्रण करता है तो उपवास भी सफलतापूर्वक कर लेता है।

तो अनशन का सम्बन्ध चारित्र धर्म के साथ जुड़ता है। सम्यक् चारित्र का अर्थ यह है कि वह अपने अशुद्ध व्यापार को रोके तथा अपने पुरुषार्थ को शुद्ध व्यापार मे लगावे। अशुद्ध व्यापार कैसे बनता है? जो मोह के साथ पाचो इन्द्रियो के विषयो का पोषण करता है, वह अपने मन, वचन एव काया के योगो को अशुद्ध व्यापार में लगाता है। किन्तु जो उस मोह के पोषण को रोक कर आत्मा की पुष्टि के लिये पॉचो इन्द्रियों का दमन करता है एव उनकी गति को सयमित बनाता है, वह शुद्ध व्यापार की ओर बढता हुआ कहा जाता है। सही विश्वास के साथ मन, वचन एव काया के योगों को शुभ बना कर जो शुद्ध व्यापार मे चला जाता है-वही चारित्र की स्थिति होती है। चारित्र मे जिसका इस प्रक्रिया के साथ शुद्ध प्रणिधान बन जाता है, उसमें अनशन तप करने की कठिन शक्ति भी पैदा हो जाती है। शीतकाल मे अनशन तप करना कठिन होता हे किन्तु इस दिशा में जो भव्य आत्माए अपनी शक्ति को जागृत बना लेती हैं, वे शीतकाल मे भी सामान्य ही नहीं, कठिन तप तक का आराधन आरम्भ कर देती है। यहा भीनासर व गगाशहर मे इन दिनों जो पचरगी तपस्या का प्रसग चल रहा है-यह विशेष बात है। इसमे भी विशेष बात यह है कि जवान लोग भी तपस्या मे पूरा-पूरा हिस्सा ले रहे हैं। एक भाई ने सात पचक्खे हैं तो किसी ने पाच और तीन और बहनो मे तो जोरदार तपस्या चल ही रही है। अभी चातुर्मास का प्रसग नहीं है फिर भी अनशन तप का इतना आराधन मोह-दशा को कमजोर बनाने से ही शक्य हो सकता है।

परन्तु इतने मात्र से ही अनशन तप के आराधन के विषय में सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिये आर सन्त लोगों को भी इतना ही तप नहीं समझना है। इसके साथ ही अनशन के आन्तरिक अर्थ को उन्हें समझना ओर समझाना चाहिये। तप का विस्तार तो बारह प्रकार से हें और ख्याल मे लेंगे तो ज्ञात होगा कि केवल अनशन ही तप नहीं है। बारह प्रकार के तपों मे अनशन तो मात्र एक प्रकार है। सक्षेप में यह समझिये कि अनशन तप के प्रति श्रद्धा बारह प्रकार के तपों एव चारित्र मे किस पकार समाविष्ट होती है? सही ज्ञान है तो सही श्रद्धा है ओर सही चारित्र है एव सही ज्ञान, श्रद्धा व आचरण के साथ अनशन है तभी वह सच्चा तप बनता है।

तपाराधन केवल बाह्य ही नहीं होता या कायिक मात्र नहीं होता, बल्कि मानसिक एव वाचिक सयम भी जब उसमे सम्मिलित होता है, तभी वह पूर्ण तप होता है। अनशन तप बाह्य प्रकार है किन्तु उसके साथ तप के आभ्यन्तर महत्व को दृष्टि से परे नहीं कर देना चाहिये। तपस्या करने मे मन, वचन एव काया-तीनो के अशुद्ध व्यापार रुके और वे शुद्ध व्यापार मे लगे- इसका पूरा-पूरा लक्ष्य रहना चाहिये।

अनशन तप का भी आन्तरिक अर्थ जब पूरा होता है तभी वह शुद्ध प्रणिधान के निर्माण एव सवहन मे सहायक बनता है।

शुद्ध प्रणिधान की आराधना

इस प्रकार तप सहित जो सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र की आराधना की जाती है, उसे ही शुद्ध प्रणिधान की आराधना कह सकते है। इस शुद्ध प्रणिधान की आराधना मे आत्मा किस प्रकार से अपना योगदान दे? कदाचित् किसी से उपवास नहीं होता हो-बेला और पचोला नहीं होता हो तो क्या वह शुद्ध प्रणिधान की साधना ही नहीं कर सकेगा? यह विषय भी समझना आवश्यक है।

जब कोई भव्य आत्मा अपने जीवन मे शुद्ध प्रणिधान लाने की चेष्टा करती है तो उसके द्वारा तदनुरूप पुरुषार्थ करने का अवश्य प्रसग आयगा ही। वह पुरुषार्थ अनशन तप के रूप मे हो सकता है, तप के किसी अन्य प्रकार के रूप मे हो सकता है अथवा बारहो प्रकार के तप की आराधना के रूप मे हो सकता है। इसके अलावा भी पुरुषार्थ का तपाराधन से सम्बन्धित एक मात्र ही रूप नहीं है। ज्ञान,दर्शन और चारित्र का क्षेत्र पुरुषार्थ-प्रयोग के लिये विस्तृत क्षेत्र है और इन सब की आराधना से ही शुद्ध प्रणिधान की आराधना सम्पादित की जा सकती है।

अशुद्धता और अशान्ति को हटावे

जब तक आत्म-शक्ति पूर्णतया परिपुष्ट नहीं बनेगी, तब तक शुद्ध प्रणिधान के साथ अशुद्ध प्रणिधान भी आता रहेगा तथा अशान्ति उत्पन्न करता रहेगा, किन्तु पग-पग पर इस अशुद्धता और अशान्ति से सघर्ष करते रहना पड़ेगा ताकि एक दिन जीवन मे से पूरे तौर पर इन दोनो विकारो को हटाकर इस सघर्ष का सफल अन्त किया जा सके। सघर्ष के समय मे यह सतर्कता आवश्यक होगी कि आत्मा का सम्बन्ध निरन्तर शुद्ध प्रणिधान के साथ जुड़ा रहे। ऐसी स्थिति मे आत्मिक शान्ति का भाव श्रेष्ठ रीति से पल्लवित होता हुआ विकसित होता है।

इसी प्रसग मे अशुद्धता की एक बात का उल्लेख कर दू कि आप समाज मे विधवा बहिनो के साथ मे जो हीन भावना व तिरस्कार का व्यवहार रखते हैं, वह दोनों पक्षो मे अशान्ति पैदा करता है। आप यह नहीं समझते कि जो आत्मिक शक्तियों का विकास विधवा कर लेती है,

वह सधवा नहीं कर पाती है। फिर भी विधवा का सामने आना अपशकुन समझा जाता है। अभाव की स्थिति में भी जो जीवन को सयमित बनाकर चलती हैं, वैसी विधवाओ का तिरस्कार करना आत्मिक शक्ति एव शुद्ध प्रणिधान का तिरस्कार करना है। इसी प्रकार जिन सामाजिक रीति-रिवाजों मे अशुद्धता पनपाने तथा अशान्ति पैदा करने के बीज तक भी दिखाई दे तो उन्हें बदल डालने का प्रयत्न किया जाना चाहिये।

शान्ति का अडिग लक्ष्य

शुद्ध प्रणिधान बनाने और बनाये रखने का मानव-जीवन मे यह विशिष्ट प्रयोजन है कि उससे अपने जीवन में अमित शान्ति लाई जा सके तो उस शान्ति को ससार में वितरीत करके सभी प्राणियों का जीवन भी शान्तिमय बनाया जा सके।

शान्ति का अडिग लक्ष्य सदैव जीवन में समक्ष रहना चाहिये ताकि लक्ष्यहीनता की दशा पैदा न हो और लक्ष्यहीनता की दशा पैदा नहीं होगी तो शुद्ध प्रणिधान के प्रति निरन्तर सजगता बनी रहेगी। शुद्ध प्रणिधान बना रहेगा तो आत्म-शक्तियो का यथोचित विकास साधा जा सकेगा और शान्ति के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकेगा।

गगाशहर-भीनासर

दि० २२-११-७३

10

बाह्य तप तथा आन्तरिक वृत्तियां

बाह्य भय तथा आन्तरिक नीतिया

शान्ति जिन एक मुझ विनती

भगवान् शान्तिनाथ की विनति के प्रसग से जिस शान्ति के निधान को पाना चाहते हैं, उस निधान को अपने अन्त करण में सम्यक् विधि से प्रकट कर सकें-इसके लिए कठिन श्रम की अपेक्षा रहती है। किन्तु मनुष्य को वैसे श्रम का सही मूल्याकन भी पहले कर लेना चाहिये। सही ज्ञान के साथ यदि ऐसा श्रम किया जा रहा है तो उसके माध्यम से परम शान्ति की अमूल्य निधि की प्राप्ति की जा सकती है। यह भीतरी श्रम है। जीवन का श्रम इस भीतरी श्रम के साथ सम्बन्धित होता है। बाहरी श्रम बाहर की उपलब्धियों के लिये किया जाता है तो उसमें भी हाथ, पैर, मस्तिष्क आदि की शक्तिया लगती है। वह उपलब्धि बाहरी रहती है। इन्हीं हाथ, पेर और मस्तिष्क के माध्यम से अन्दर की उपलब्धियों का प्रयास भी किया जा सकता है। बाहरी इन्द्रिया बाहरी दृश्यों के साथ उपस्थित हैं। सभी व्यक्ति इन बाहरी इन्द्रियों को देख पा रहे है, परन्तु इन बाहरी इन्द्रियों को बल देने वाली भीतरी इन्द्रिया होती हैं, जिन्हें भाव इन्द्रियो की सज्ञा दी गई है। इन भाव इन्द्रियों के साथ ही साथ द्रव्य मन का प्रसग है तथा उसी के सहारे रहने वाला भाव मन होता है।

जब मनुष्य आन्तरिक निधि को पाने के लिये यथासम्भव बाहरी प्रयत्न कर लेता है, तब भीतरी प्रयत्न करने के लिये भीतरी इन्द्रियों की वह प्रतिसलीनता करने लगता है। इस तप के जरिये वह उनमे सशोधन लाता है तो शान्ति के निधान को प्राप्त करने का मार्ग खुल जाता है। विकारपूर्ण अवस्था में भाव इन्द्रियो एव भाव मन से जो शक्ति का प्रवाह फूटता है , वह आन्तरिक शक्तियो की कोमलता को नष्ट करने वाला होता है। इस विनाशक तत्त्व का निरोध पतिसलीनता के तप से ही सम्भव हो सकता है।

आन्तरिक शक्तियों की कोमलता और विनाशक तत्त्व

आन्तरिक शक्तिया वस्तुत अतीव ही कोमल होती हें ओर उनकी कोमलता की रक्षा से उनका महत्व बढता है किन्तु कोई ऐसे विनाशक तत्त्व का प्रयोग करे कि वह कोमलता नष्ट होती हो तो उसका ऐसा कार्य आत्मविस्मृति का कार्य माना जायगा। कल्पना करें कि एक पुरुष अपने परिवार का मुखिया होकर भी आततायी बनकर अपने स्नेहियो-सम्बन्धियों पर बम का प्रहार करता है -हथगोले फेंकता हे। किन्तु इसकी तैयारी के समय वह अगर सम्भल जावे ओर सोच ले कि जिन स्नेही सम्बन्धियों पर मैं हथगोले का प्रहार करने वाला हूँ, यदि उसे मैं कर दूगा तो मेरा ही परिवार नष्ट हो जायगा और मुझे ही हानी होगी। मैं क्यों

थोड़े से स्वार्थ के लिये अपने परिवार को भस्म कर रहा हू। यदि इसकी बजाय मै इनको स्नेहपूर्वक नीति के साथ समझाने की कोशिश करू तो अधिक सफलता मिलेगी। यदि ऐसा चिन्तन करके वह उस हथागोले को परिवार-जनो पर नहीं फैक कर रेती मे फैक दे तब एक ओर वह विनाशकारी हथगोला बिना विनाश किये निरर्थक हो जायगा तो दूसरी ओर सकुशल बच जाने पर परिवार-जनो के मन के वैमनस्य का भी अपने मुखिया के प्रति इस परिवर्तन से शमन होगा। इस प्रकार एक विनाशक तत्त्व बाहर का और एक विनाशक तत्त्व भीतर का विस्फोट होने से बच गया। इससे बाहरी व भीतरी कोमलता की भी रक्षा हो गई ।

यह तो एक बाहरी रूपक है, किन्तु इसको आन्तरिक सन्दर्भ मे रख कर देखने की चेष्टा कीजिये। मनुष्य के जीवन का आन्तरिक परिवार है उसकी अपनी आत्मिक शक्तिया तथा मनुष्य स्वय एक प्रकार से उस परिवार का मुखिया है। इन्हीं आन्तरिक शक्तियो ने इस शरीर की रचना की है। इस शरीर की बाहरी कोमलता की अपेक्षा भी आन्तरिक भावनाओ की कोमलता अत्यधिक होती है। यह भीतरी कोमलता आत्मिक शक्तियो या कि अन्तर्वृत्तियो की होती है। मनुष्य जब कभी बाहरी पदार्थो को अपने लिये इष्ट समझता है और सोचता है कि यह प्रियकारी पदार्थ है तो उसे वह ग्रहण करने की अपनी अभिलाषा बनाता है। उसे ग्रहण करते समय उसकी वासना जागती है कि उस पदार्थ को अन्य कोई व्यक्ति ग्रहण न कर सके। इस प्रकार लोभ की भारी मात्रा के साथ वह अपने प्रियकारी पदार्थ को ग्रहण करने का यत्न करता है। उसी समय सोचे कि एक अन्य व्यक्ति भी उसे देखकर अपनी लालसा बनाता है कि वह भी उस पदार्थ को ग्रहण करे क्योकि वह उसे भी प्रियकारी लगता है। पदार्थ एक हे जिसे पहला व्यक्ति अपने पास रखना चाहता है तथा दूसरा व्यक्ति अपने पास रखना चाहता है। इस खींचातानी की प्रतिक्रिया दोनो के मन मे पैदा होती है। उस समय यदि दूसरा व्यक्ति उस पदार्थ को ग्रहण करने लगता है तो पहले व्यक्ति के मन मे रोष उत्पन्न होता है। ऐसी मनोदशा मे वह उस पर तीव्र प्रहार करने की सोचता है कि जिससे दूसरा उस पदार्थ को ग्रहण न कर सके तथा वह उस पदार्थ को ग्रहण करले। वह उसकी बाहरी और भीतरी शक्तियो को जर्जरित बना देना चाहता है।

इस प्रक्रिया मे सत्य यह हे कि पहला व्यक्ति जब दूसरे व्यक्ति पर प्रहार करने के लिये कोई वाहरी शस्त्र उठाता हे तो उससे भी पहले वह भीतरी शस्त्र को उठाता है। वह भीतरी वम का गोला क्रोध का उस पर फेंकता है ओर सोचता हे कि उसकी आन्तरिक शक्तिया उससे जल उठें। क्रोध का वह भीतरी वम का गोला वाहरी इन्द्रियो को उत्तेजित बनाता हे कि जिससे वे किसी वाहरी शस्त्र को पकड़ कर अपने प्रतिद्वन्द्वी पर प्रहार करे। अव वाहरी प्रहार उस पर सम्भव वने या नहीं-यह अलग वात हे, लेकिन क्रोध रूपी जिस वम का उसने अपने अन्त करण मे विस्फोट कर दिया, उसके धुए ओर उसकी ज्वालाओ से उसकी स्वय की आन्तरिक शक्तियो की कोमलता तो भस्मीभूत होगी ही। आन्तरिक कोमलता के नष्ट होने से वाह्य कोमलता पर भी विपरीत प्रभाव अवश्य पड़ेगा।

अन्दर-बाहर का परस्पर प्रभाव

क्रोध के बारे में ही जैसे मैं बता रहा हू कि जब भीतरी शक्तियो मे क्रोध का विस्फोट होता है तो उसके विषैले कीटाणु शरीर के रक्त को भी विषैला बना देते हैं। इस प्रभाव से कई रोग भी पैदा हो सकते हैं। किन्तु ऐसे समय मे ही जो प्रतिसलीनता तप का आराधन कर ले तो आन्तरिक शक्तियों की सशक्तता के कारण क्रोध का विस्फोट ही नहीं हो सकेगा। जैसे रेती में दब जाने से हथगोला निरर्थक हो जाता है, वैसे ही तप रूप रेती मे क्रोध का शमन हो जाता है। प्रतिसलीनता के तप से प्रभावित होकर ही क्रोध के विस्फोट को रोका जा सकता है। यह विस्फोट रुक जाता है तब आन्तरिक शक्तियों की कोमलता की भी रक्षा हो जाती है तो इस बाहर की कोमलता की भी रक्षा आप कर सकते हैं। विवेकपूर्वक इस कोमलता की रक्षा से तथा विनाशक तत्त्व के विस्फोट को रोक देने से कर्मो की निर्जरा होती है तथा इस निर्जरा को ही रेती की उपमा मैं दे रहा हू जिसमें गिर-गिर कर विस्फोटक वृत्तिया निरर्थक बनती जाती है तथा वे आत्म विकास को किसी भी प्रकार की हानि नहीं पहुचा पाती हैं ।

निर्जरा को आत्मा का सचा श्रम माना जाता है और इसी श्रम का सचा मूल्याकन करने की आवश्यकता हैं जिसके जरिये आत्मा निरन्तर हलु-कर्मी बनती जाती है। यह आत्मा का भीतरी श्रम होता है जिसके कारण आन्तरिक शक्तियो एव वृत्तियो की सुरक्षा सुरक्षित रहती है। जब आन्तरिक शक्तिया सुरक्षित रहती हैं तो वे बाहर की शक्तियो की भी रक्षा करती हैं। अन्दर बाहर का परस्पर प्रभाव इसी रूप मे होता है कि एक स्वस्थ आत्मा के साथ शरीर का स्वास्थ्य भी सुचारू रहता है। जिसकी आत्मा तेजस्वी बनती है, उसका शरीर भी तेजस्वी दिखाई देता है।

अन्दर बाहर का पारस्परिक प्रभाव इतना सलग्न रहता है कि चाहे प्रभाव रक्षक हो या विनाशक-अन्दर का प्रभाव बाहर और बाहर का प्रभाव अन्दर तत्काल पड़े बिना नहीं रहता है। भीतर में कुटिल वृत्ति का जहर पैदा नहीं होने दिया गया तो उसका दुष्प्रभाव शरीर के रक्त पर नहीं पड़ेगा, बल्कि भीतरी सम-वृत्ति से उस रक्त की विषाक्तता और अधिक स्वच्छ बनेगी। भीतर से जहर की ज्वाला नहीं निकलेगी तो बाहर से हाथ भी कोई शस्त्र पकड़ कर किसी पर मारक प्रहार नहीं करेगा। जिह्वा भी वैसी अवस्था मे दुर्वचनो का विष नहीं उगलेगी, बल्कि स्नेह और नीति से ही उस विवाद को सुलझाना चाहेगी। तब पहला व्यक्ति दूसर व्यक्ति से प्रेमपूर्वक यही कहेगा कि यदि पदार्थ एक ही हे तो हम लड़े नहीं बल्कि इसका सन-दिभाजन करके हम दोनो ले ले। असल मे विवाद कभी होता नहीं, वह तो बनाया जाता है। आन्तरिक शक्तिया विनाशक तत्त्व का अपने भीतर विस्फोट करती ह-उसका कुप्रभाव बाहर आता है, तब विवाद बनता है जिसमें सामने वाले का अहित तो हो या नहीं हो-यह [illegible] बात है, लेकिन क्रोध करने वाला स्वय तो अपनी अन्दर बाहर की शक्तियो की क्षति कर ही देता है। इसी के विपरीत यदि ऐसे विस्फोटो को रोक सकने की क्षमता [illegible]

लिया जाय तो कठिन से कठिन विवादो की सुलझन भी अतीव सरलता से हो जाती है तथा सब ओर सदाशय शान्ति का विस्तार होता है। अन्दर बाहर के इस पाम्परिक प्रभाव की पद्धति को समझ कर आत्म-नियन्त्रण को प्रतिसलीनता तप की आराधना द्वारा अति पुष्ट बना लेने से जीवन मे शान्तिपूर्ण विकास जन्म लेता है।

प्रणिधान की शुद्धता एवं सुव्यवस्था

जब आन्तरिक शक्तियो की सुरक्षा सुनिश्चित बन जाती हे तो उनकी शुद्धता की स्थिति भी अनुकूल बन जाती है। इन आन्तरिक शक्तियो की सुरक्षा एव शुद्धता ही प्रणिधान की शुद्धता एव सुव्यवस्था का कारण होती है। जब प्रणिधान को शुद्ध एव सुव्यवस्थित आप बना ले तो शुद्ध भावना के साथ अपनी आन्तरिक वृत्तियो को आन्तरिक श्रम मे सम्यक् प्रकार से नियोजित कर सकेंगे। जरा सी अपनी मन स्थिति को चिन्तन मे रमावे तो यह विषय आपको कठिन प्रतीत नहीं होगा और आप मेरे अभिप्राय को न सिर्फ समझने मे बल्कि उसे अपने जीवन मे उतारने मे भी समर्थ बन सकेगे। मै आत्मीय भावना के साथ आपको परामर्श देना चाहता हू कि आप प्रतिसलीनता की तप-विधि को हृदयगम करे और अपनी कोमल वृत्तियो को सुरक्षित बनाये रखें।

आप बाह्य तप जितना कर सके, अवश्य करे किन्तु आन्तरिक वृत्तियो को पभावशील बनाने वाले तप के अन्य प्रकारो पर भी पूरा आचरण करे। आप दुष्वृत्तियो के विषैले बम पहले तो अपने पास रखे ही नहीं और कहीं ऐसे बम हो भी तो उनके विस्फोट से अपनी अन्तर्शक्तियो को बचाये रखे। कदाचित् कुछ ऐसा प्रसग भी आपके सामने बन जावे कि जिससे आपका क्रोध भड़क सकता हो, फिर भी प्रतिसलीनता के तपाराधन से प्राप्त आत्म-नियन्त्रण के आधार पर आप शान्ति धारण कर लीजिये-फिर उसका सुपरिणाम देखिये। दूसरे ने आपको उत्तेजना दिलाई और परिणामस्वरूप उसकी भीतरी शक्तिया उत्तेजित बनी तथा उसने उस उत्तेजना से भड़के क्रोध के हथगोले को उठा भी लिया व आप पर फैंक भी दिया। लेकिन आप अपनी आत्म-नियन्त्रण की रेती पर उस गोले को निरर्थक बना देते हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि जो कुछ क्षति हुई, वह प्रहार करने वाले की ही हुई। आपका तो कुछ भी नहीं बिगड़गा। इसके विपरीत ऐसे प्रहारो के समय शान्ति एव सुवैचारिकता रखने के कारण आपका प्रणिधान निरन्तर शुद्ध एव सुव्यवस्थित बनता रहेगा।

दुष्वृत्तियों एव दुष्प्रवृत्तियो के प्रहारो को सफलतापूर्वक झेलने वाली ढाल यह प्रतिसलीनता तप की ही ढाल होती है। यदि आप सामने वाले के क्रोध के समय प्रतिसलीनता तप का स्मरण करले और आत्म-नियन्त्रण की स्थिति को मजबूत बना ले तो आत्म प्रदेशो मे एक नई हलचल मच जायगी। होगा क्या कि क्रोध के जिन स्कन्धो का जमाव जिन आत्मिक प्रदेशो के साथ था तो सामने वाले क्रोधी व्यक्ति का निमित्त मिलने से वे क्रोध के स्कन्ध आपके आत्म-प्रदेशो से अलग हट जावेगे। इसका दोहरा लाभ होगा। तब आपके आत्म-प्रदेश क्रोध के

स्कन्धों से मुक्त होकर शान्ति लाभ के अभिलाषी बन जायेगे। वैसी मनोदशा म आप तो किसी अन्य पर विनाशक तत्त्व का प्रहार करेंगे ही नहीं किन्तु स्वय भी किसी के विनाशक प्रहार से आहत नहीं बनेगे। सोचिये कि यदि एक-एक व्यक्ति ऐसा भीतरी श्रम करके आत्मनियन्त्रण की क्षमता को प्राप्त करने लगे तो परिवार, समाज एव राष्ट्र का समूचा वातावरण भी कितना हार्दिक एव सहानुभूति पूर्ण बन सकता है। प्रणिधान की वैसी शुद्धता एव सुव्यवस्था तब राष्ट्रीय एव मानवीय जागृति का प्रतीक बन जायगी।

विस्फोट से विकास की ओर

आत्म नियन्त्रण की अवस्था में विनाशक तत्त्व जो आत्म-प्रदेशो के साथ सलग्न होगे वे हटेगे तथा नये तत्त्व आकर सलग्न नहीं बनेगे और इसी प्रकार कर्मो की निर्जरा का मार्ग प्रशस्त होगा जो विस्फोट से विकास की ओर अग्रसर बनता है। आन्तरिक शक्तियों में होने वाले विस्फोट को बचा लिया तो यह समझिये कि पहले तो आपने अपने परिवार को ही बचा लिया। यह आत्मा अन्तर्शक्तियो के अपने परिवार के मुखिया के रूप में इस प्रकार अपने परिवार का सरक्षण करने मे समर्थ बनती है तो अपने श्रेष्ठ विकास का द्वार भी खोलती है। जब अन्त करण मे होने वाले ऐसे विस्फोटो को विफल बना देने वाली आत्म-नियन्त्रण की शक्ति सचित करली तो फिर क्रोध आदि दुष्प्रवृत्तियो के नये स्कन्ध अन्दर आकर नहीं बैठेगे। इसी के विपरीत यदि इन विस्फोटों से आहत एव प्रभावित बनकर क्रोधित हो गये तो आप जानते है कि जब कभी सघर्ष छिड़ता है तो पहले जमा बारूद काम मे आता है और नया बारूद ज्यादा जमा होता है। उत्तेजना से उत्तेजना अधिक पैदा होती है। यदि पहले ही उत्तेजना न हो तो नई उत्तेजना पैदा होने का प्रसग नहीं रहता है। युद्ध का एक बिगुल भयकर रक्तपात करवा देता है किन्तु यदि वह एक बिगुल ही न बजे तो शान्ति यथावत् बनी रह सकती है।

विस्फोट को छोड़ेगे तथा विस्फोट से बचेंगे तो निश्चित ही आपके जीवन की गति सच विकास की ओर मुड़ेगी क्योंकि आपके पास आत्म-नियन्त्रण का सम्बल होगा जो सर्वोच्च विकास का मूल होता है। विकास के मार्ग पर आपकी आत्मा शुद्धता एव पवित्रता के साथ आन्तरिक शान्ति का आनन्ददायक अनुभव करेगी। आप ऐसा करके देखिये तो सही- इस प्रकार के तपाराधन को अपना कर ऐसी आत्म-शान्ति का अनुभव तो लीजिये। मेरे कई भाई-बहिन कभी-कभी कहते हैं कि और सब कुछ कर लेंगे किन्तु इस क्रोध को नहीं जीत सकेंगे पर मैं कहना चाहता हू कि इस दिशा मे भी आप अगर प्रयत्न करेंगे और विवेक व भावना के साथ प्रतिसलीनता के तप की सहायता से आत्म नियन्त्रण की उपलब्धि करेंगे तो आप क्रोध तो क्या जटिल से जटिल दुष्प्रवृत्तियो पर भी अपना काबू कायम कर लेंगे।

आत्म-नियन्त्रण और आत्म-शान्ति

जहाँ आत्म-नियन्त्रण है वहाँ अवश्य ही आत्म-शान्ति भी है। इन दोनों का [illegible] [illegible] साथ होता है। इन्द्रियो और मन पर निग्रह स्थापित करके [illegible]

नियन्त्रण की स्थिति को पुष्ट बना लेगे तो क्रोध एव अन्य समस्त विकारो का कुप्रभाव आपके मानस पर से हटता हुआ चला जायगा और आपके भीतर आत्म-शान्ति की गहराई बढती जायगी। गृहस्थ अवस्था मे रहते हुए भी जो भाई-बहिन ऐसे आत्म-नियन्त्रण की क्षमता का परिचय देते है, वे ससार के सामने अपूर्व आदर्श उपस्थित करते है और उत्तेजित व्यक्तियो को अपने व्यक्तित्व से ही शान्त बना देते है।

मैंने वर्तमान समय मे ही एक मीठा माजी का दृष्टान्त सुना है। एक नगर मे एक वृद्धा ने आत्म-नियन्त्रण मे इतनी कुशलता प्राप्त की कि कितनी ही उत्तेजना के बावजूद वह कभी भी अशान्त नहीं बनती बल्कि धीरे-धीरे उसकी इस शान्ति का चारो ओर ऐसा सुप्रभाव पड़ने लगा कि नगर-निवासी उसे मधुरता का प्रतीक समझने लगे और उसे मीठा माजी के नाम से पुकारने लगे। उस वृद्धा की यह प्रशसा एक सिरफिरे युवक को सहन नहीं हुई । वह आत्म-नियन्त्रण को कायरता मानता था। उसका कहना था कि ईंट का जवाब पत्थर से देना चाहिये। उसने मीठा माजी को उत्तेजित बनाने का निश्चय किया। एक रोज सध्या होते ही वह उस वृद्धा के कचे मकान पर चढ गया, जहा ऊपर मिट्टी के कवेलु छाए हुए थे। कुछ कवेलुओ को तो वह जोर-जोर से चल कर फोड़ने लगा और बाकी कवेलुओ को वह उठा-उठा कर फैकने लगा। वृद्धा ने पहले तो समझा कि कोई बन्दर है लेकिन वैसा करते हुए जब उसने उस युवक को देखा तब भी वह स्वय कतई उत्तेजित नहीं हुई। वह निरपराधिनी थी और उस उत्पाती पर उसका क्रोध करना स्वाभाविक था, परन्तु उसने आत्म-नियन्त्रण को मजबूत बनाये रखा और समझा कि यह उत्पाती युवक तो मुझे तप की प्रेरणा देने वाला है। उसने मधुर शब्दो मे कहा-भैया मुझ बुढिया की झौपड़ी मे यह क्या कर रहे हो?

युवक ने चिल्लाकर जवाब दिया -भैया किसको कह रही है, मै तेरा भैया नहीं, तेरा माटी हू। अब कहिये, ऐसे तीक्ष्ण प्रहार पर कितनी भीषण उत्तेजना पैदा हो सकती है? किन्तु वृद्धा का आत्म-नियन्त्रण अपूर्व था। उसने शान्ति के स्वर मे ही कहा-ओहो, तू मेरा माटी है तब तो मुझ पर तुम्हें ज्यादा दया करनी चाहिये। मेरी झोंपड़ी को नष्ट करने से क्या होगा? तुम्हे तो मेरे कवेलुओ को ज्यादा ठीक तरीके से जमाना चाहिये कि मेरा ज्यादा बचाव हो। युवक का चेहरा लज्जा से काला पड़ गया और वह अपना मुह नीचा करके नीचे उतर गया। वह वृद्धा के पैरो मे गिर गया और पश्चाताप के आसू वहाने लगा। उसने पूछा-माजी, मै आपके मीठे को कड़वा बनाना चाहता था किन्तु मीठे की ऐसी क्षमता आपने कैसे प्राप्त की? वृद्धा ने भी स्नेह से कहा-युवक, तू मेरा सचा स्नेही है, तेने मेरी परीक्षा ली और मेरे आत्म-नियन्त्रण को अधिक सुदृढ बनाया है। वृद्धा के उस मानस का उस युवक पर ऐसा सुप्रभाव पड़ा कि उसने अपने जीवन का स्वरूप ही बदल लिया। शायद कई उपदेशों का उसके हृदय पर जो असर नहीं पड़ता, वह एक आदर्श उदाहरण का पड़ा।

ध्यान रखिये कि आत्म-नियन्त्रण कहीं भी कैसी भी परिस्थिति में हार नहीं खाता। हारता वही है जो एसे आत्म-नियन्त्रण से टक्कर लेता है। आत्म-नियन्त्रण उस टक्कर लेने वाले

के हृदय को भी परिवर्तित कर देता है। इस प्रकार आत्म-नियन्त्रण स्वय नियन्त्रक के भीतर तो आत्म-शान्ति के सजीव रूप की रक्षा करता ही है, परन्तु उसके सामने आने वाले पतितों का भी वह उद्धार करके उन्हे भी आत्म-शान्ति का पुजारी बना देता है।

शान्ति आपको भी तो चाहिये या नहीं ?

मैं आपसे पूछू कि शान्ति आपको भी तो चाहिये या नहीं ? वह वृद्धा तो शान्ति की आराधिका थी और गृहस्थ-धर्म में रहते हुए उसने ऐसा अद्भुत आत्म-नियन्त्रण कर लिया तो क्या आप वैसा नहीं कर सकते ? इस रूपक को सामने रख कर प्रतिक्षण ध्यान रखिये कि आपके ही भीतर क्रोध और दूसरे विकार बिल्ली की तरह इस ताक में बैठे रहते हैं कि मौका मिले और शुद्ध अन्तर्शक्तियो के कबूतरों को मार बैठें। आप देखते होंगे कि बिल्ली अपनी घात में किस कदर छिपी बैठी रहती है और अचानक झपट्टा मार कर अपने शिकार को पकड़ती है। इसी प्रकार क्रोध और दूसरे विकार भी भीतर ही भीतर मौका ताकते रहते हैं एव यदि आप पूरी सतर्कना नहीं बरतें तो शुद्ध वृत्तियों को घर दबोचते हैं तथा जीवन के विकास नष्ट कर देते हैं।

सत्य मानें कि परमाणु बम जिस रूप में शुद्ध मानवता का विनाश नहीं करता, उससे अधिक क्रोधादि विकार मानवता की जडों पर कुठाराघात करते हैं। इन दुष्वृत्तियों के घेरे में आ गये तो ये भस्मीभूत किये बिना नहीं छोड़ती हैं। ये घेरे ससारी आत्माओं पर छाये हुए हैं और उन्हें रात-दिन उत्तेजित बनाते हैं व पतित बनाते रहते हैं। इन घेरों के विनाशक तत्त्वों को समझने तथा इनकी प्रतिरोधक आत्म-नियन्त्रण की क्षमता को बढाने की आवश्यकता है, अगर आप इन घेरों से निकल कर अपनी आत्मा को परम शान्ति की ओर ले जाना चाहते हैं। ज्ञानियो का कथन है कि बाहर जो भी विस्फोट दिखाई देते हैं, वे भीतरी विस्फोट के परिणाम स्वरूप ही बाहर आते हैं। यह परमाणु बम भी आन्तरिक क्रोध एव स्वार्थ के विस्फोट का बाहरी रूप है। क्रोध मनुष्य के अन्त करण को जलाता है तो उसका बाहरी रूप [illegible] व बाह्य को जलाता है। क्रोधी का शरीर जलेगा, रुग्ण रहेगा तो वह अपने आस-पास के वातावरण को भी दाहक बनावेगा। क्रोधी अपने विस्फोटक स्वभाव से न स्वय शान्ति रख सकेगा और न दूसरो को शान्ति दे सकेगा। जहा अन्तर्ज्वाला सदा सुलगती रहती है [illegible] अशान्ति मची रहती है। आज देखा जाता है कि जिने घरों में सुख-सामग्री की कमी नहीं है [illegible] कोई आर्थिक समस्या नहीं है वहा भी क्रोध, ईर्ष्या आदि ऐसी दुष्प्रवृत्तिया पनप रही हैं कि सारा का सारा परिवार अन्दर ही अन्दर घुलता रहता है तथा अशान्ति के कारण [illegible] जीवन नष्ट सा हो जाता है।

समाप्त हो सकता हे। आग मे आग फैंकने से ज्वाला की तेजी वढती ही हे-यह पक्की वात हे, किन्तु अगर आग पर पानी फेक दिया जाय तो वह आग को वुझा देगा। इस पानी की शीतलता ओर सहनशीलता को यदि अपने जीवन मे भी आप साकार रूप देना चाहते हें तो प्रतिसलीनता के तप को अपनाइये।

कई लोग सोचते हैं ओर इस कमजोरी का अनुभव करते हें कि हम से तो वोले विना नहीं रहा जाता है तो मै उनके लिये एक मत्र वताता हू। यह मत्र अपने का मत्र नहीं हे, आजमाने का एक उपाय है। जिस समय क्रोध का प्रसग छिड़े ओर आपको उत्तेजना आने वाली हो, उस समय गर्म पानी या धोवन पानी को मुह मे भर कर अपने मुह को वन्द करलें आर जव तक सामने वाले के प्रहारो का सिलसिला वन्द न हो तव तक उस पानी को मुह मे भरा हुआ रखिये। जब दोनो ओर की उत्तेजना पूरी तरह से शान्त हो जाय तो उस पानी को वाहर छोड़ दीजिये। इस तरह आपका यह उपाय भी एक तप वन जायगा। यह तो एक वाहरी दृष्टि का प्रयोग हे लेकिन भीतर मे भी आत्म-नियन्त्रण की क्षमता पेदा होनी चाहिये। अन्दर वाहर के पारस्परिक प्रयोगो से जीवन मे प्रतिसलीनता के तप को पुष्ट वनाने की अभिरुचि तीव्र वन सकती है। प्रतिदिन प्रात काल के समय इस सम्वन्ध मे आप चिन्तन करे तथा इस दिशा मे कुछ-कुछ तप त्याग करने की प्रतिज्ञाए लेते रहे तो आप जीवनी शक्तियो के अपव्यय को रोक सकेगे एव चारो ओर बाहर व भीतर फैल रही अशान्ति को भी घटा सकेगे।

समभाव और समता से शान्ति

प्रतिदिन के अभ्यास से सबके प्रति समभाव बनाये रखने की वृत्ति कार्यरत होगी और उससे सभी क्षेत्रो में समता की स्थापना को बल मिलेगा। आपकी कोई कितनी ही स्तुति करे तो उस मे फूले नहीं और कटुतम निन्दा करे, तब भी उत्तेजित न बने- यह समभाव की दृष्टि होती है। समभाव की दृष्टि बनाना एक प्रकार से तपारा धन करना है। विकारो के आक्रमण से आप सावधान रहिये और गोपन कीजिये-सरलता का परिचय दीजिये-यह प्रति-सलीनता तप है।

इस तप का निरन्तर अभ्यास और अपने श्रम का मूल्याकन करते रहे। उससे आपको विदित होगा कि आप आत्म-नियन्त्रण एव आत्म-शान्ति के पथ पर कितनी प्रगति कर पाये हैं? अपनी इस आलोचना से आन्तारिक शुद्धि बढती रहेगी और जीवन पवित्र बनता रहेगा। जीवन जितना शुद्ध और पवित्र होगा, आत्म-शान्ति की गम्भीरता भी उतनी ही आनन्ददायक बनती जायगी। इसलिये सम्यक् ज्ञान एव श्रद्धा के साथ ऐसा भीतरी और बाहरी श्रम कीजिये कि जिसके फल स्वरूप कोमल वृत्तियो की रक्षा हो सके, उनके विकास से समभाव एव समता का क्षेत्र बढ़ सके तथा चहुमुखी शान्ति का विस्तार हो सके।

गगाशहर-भीनासर

दि० ३-१२-७३

11

उणोदरी व भिक्षाचरी :
जीने के लिये खाना

※ आत्म शोधन के लिये तप ताप की आवश्यकता होती है ।

※ ज्ञान पूर्वक तप से पुराने कर्म को साफ किया जा सकता है ।

※ जीने के लिये खाना भी तप है, क्योंकि वह जीने के लिये खाता है, वह स्वाद को जीतता व लो लुपता का त्याग करता है ।

※ अपनी नित्य भोजन की खुराक से कुछ कम खाना उणोदरी तप कहलाता है अर्थात् खाते-खाते तप ।

※ मान-सम्मान को जीतने वाला ही भिक्षाचरी कर सकता है ।

※ भिक्षाचरी से महान कर्मों की निर्जरा हाती है ।

※ समभाव की सादना का अवसर भिक्षाचरी से प्राप्त होता है ।

※ त्यागमय भोजन के साथ जो पौषथ व्रत किया जाता है वह दयाव्रत कहलाता है ।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

भगवान् शान्तिनाथ की प्रार्थना के प्रसग से शान्ति की खोज एव शुद्ध प्रणिधान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न चल रहा है। शुद्ध प्रणिधान जीवनी शक्ति का महान् स्रोत होता है। इस स्रोत को महान् ही नहीं, एकमात्र भी कह सकते हैं। इस शक्ति के प्रवाह को आत्मा के असख्य प्रदेशों में रहे हुए कर्म मैल को हटाने के लिये जब लगाया जाता है और जब वह शक्ति का प्रवाह उन असख्य आत्मिक प्रदेशो के साथ तादात्म्य सम्बन्ध से जुड़ कर जागृत हो जाता है तो फिर आत्मा के परम शुद्ध अवस्थान के उस अद्वितीय रूप का ससार के समक्ष उपस्थित होना कठिन नहीं रहता। ससार मे जितने पदार्थ दृष्टिगत हो रहे हैं अथवा जिन पदार्थों को देख सकने में मानव समर्थ होता है-वे चैतन्य-शून्य हो अथवा चैतन्ययुक्त, किन्तु शुद्ध प्रणिधान के साथ शक्ति के प्रवाह को कर्म मैल की समाप्ति में नियोजित करने वाली आत्मा का स्वरूप सिवाय सिद्ध स्वरूप के इन सभी पदार्थों के स्वरूप से उत्कृष्टतर बन जाता है। शुद्ध प्रणिधान से प्रकाशित उस आत्मा के तुल्य कोई भी स्वरूप नहीं टिकता-उसके लिये केवल सिद्ध स्वरूप ही लक्ष्य बना रहता है। आत्मा का ऐसा दिव्य स्वरूप जिस विधि से निखरता है, उस विधि को धीरे-धीरे ही सही, जीवन में उतारने का अभ्यास आरम्भ कर देना चाहिये।

ज्ञान की दृष्टि से किसी सिद्धान्त का कथन कर देना एक बात है, किन्तु उस कथन की [illegible] को सम्पूर्ण शक्ति के साथ अपने जीवन के आचरण में उतारने का प्रयत्न करना दूसरी [illegible] होती है। जो कहें, वैसा करे तभी कथन प्राणवान् बन सकता है। आचरण के साथ ही [illegible] में जीवन आता है। आचरण के साथ किया जाने वाला कथन ही सही अर्थ में जिदादिली [illegible] कहलाता है। जिंदादिली जिन्दगी का सार होती है। जिन्दादिली से जो कहता है [illegible] ही करता है तो वह स्वय की जिन्दादिली को भी बनाये रख सकता है तथा दूसरों [illegible] को भी अपने आप जगा सकता है। दिल जिन्दा या मुर्दा काम से कहलाता [illegible] जाता है।

आत्मा का सहज विकास

[illegible] हृदय से कथन करता है और उसे जागृत हृदय से ही आचरण में उतारता [illegible] का विकास सहज ही में सम्पादित हो सकता है। आत्मा की विराट् चैतन्य-
[illegible]

बड़ा ही सुगम मार्ग रखा है। सुगम मार्ग का तात्पर्य यह है कि भव्यात्मा उस मार्ग को सहज ही मे अपना सके। यही साहजिक रूप जब क्रियात्मक रूप से आगे बढता हे तो वही सहज रूप शुद्ध प्रणिधान मे परिणत हो जाता है। इस दृष्टिकोण से समझना यह हे कि जिस प्रकार स्वर्ण एक-एक कण के रूप मे चट्टान मे समाया हुआ रहता है और चतुर कारीगरो की सहायता से ही शुद्ध स्वर्ण के रूप मे परिणत होता है, उसी प्रकार शुद्धिकरण की प्रक्रिया इन आत्म-प्रदेशो के साथ भी चल सकती हे जब आत्मा रूपी चतुर कारीगर विवेक के साथ शोधन कार्य करे। जैसे रासायनिक क्रियाओ से तथा अग्नि मे तपाकर सोने के कणो के मेल को हटाया जाता है, वसे ही साधना की क्रियाओ से तथा तप मे तपाकर आत्म-प्रदेशो के स्वरूप को शुद्धता के रूप मे निखार सकते है।

स्वर्ण के मैल को हटा कर उसे सो टच का सोना बनाने मे कुशलता एकदम प्राप्त नहीं हो जाती है। कोई धीरे-धीरे जब परीक्षक बनता है और अपनी परख का प्रयत्न चालू रखता है तभी वह कुशल स्वर्ण-शोधक बन सकता है। ऐसी ही शोधन-कुशलता आत्मा भी अपनी निरन्तर की साधना से प्राप्त कर सकती हे। अग्नि की तरह आत्म-शोधन के लिये तप के ताप की आवश्यकता होती है। यदि तप की शोधन क्रिया विवेकपूर्वक चले तो आत्मा अपने स्वरूप पर जमे कर्मो के मैल को हटा सकती है एव उसकी उज्ज्वलता को निखार सकती है। तप के ताप से उसका प्रणिधान शुद्ध बनता है तथा शुद्ध प्रणिधान से कर्म रज दूर होती हे। कर्म रज के हटने पर आत्मा का मौलिक रूप प्रकट हो जाता है जिससे स्थायी शान्ति की प्राप्ति होती है।

तप के ताप से आत्मा का निखार

आग मे तपने के बाद ही सोने की असलियत जाहिर होती है क्योकि मैल को छाट कर सोने को असल बनाने वाली भी आग ही होती है। उसी प्रकार तप का ताप आत्मा के कर्म-मैल को जलाता है तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप को भी दमकाता है। तप किसको कहे ?

तप्यते इति तप

अर्थात् जिससे तपा जाय, वह तप है। तपने वाली आत्मा होती है याने कि तप का अनुभव करने वाली आत्मा है। शरीर तप का अनुभव नहीं करता है। आत्मा की ज्ञान शक्ति से जब वह रहित हो जाय तो उस शरीर को कितना ही तपावे या जलावे, तब भी इस शरीर को तप का कोई अनुभव होने वाला नहीं है। जब द्रव्य तप का भी शरीर को अनुभव नहीं होता, तब भाव तप से तो आत्मा ही तपती है। उससे आत्मा का शुद्ध प्रणिधान विकसित होता है।

वास्तविक दृष्टि से ज्ञानपूर्वक किये जाने वाले तप को आत्मा अपने स्वरूप-निखार का सहायक और साधन मानती है। तप से वह तपती हो- ऐसा अनुभव नहीं करती, क्योकि ताप-यह तो कष्टदायक स्थिति होती है, जबकि ज्ञान दृष्टि से आराधा गया तप आत्मानन्द प्रदान करता है। यदि तप को आत्मा कष्टदायक रूप मे समझे तो उस तप का सही आराधन

जाती है वही तप है। तप का यह पूर्वत बाह्य रूप भी नहीं है और तप का आन्तरिक रूप तो तभी माना जायगा, जब उससे शुद्ध प्रणिधान का प्रकटीकरण हो। भगवान् ने कहा है कि जिसकी शक्ति हो, वह अनशन तप को अगीकार करे किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिसकी उपवास आदि करने की क्षमता नहीं हो तो वह तप का आराधन ही नहीं कर सकता है। आत्मशुद्धि के लिये जिस तप को किया जाता है उसके लिये तदनुरूप मन, वचन, एव काया की योग्यता होनी चाहिये और वह उस योग्यता के अनुसार तप को स्वीकार करके चल सक्ता है। अनशन तप करने की क्षमता नहीं हो तो वह खाते-खाते भी तप कर सकता है-इसमे कोई सन्देह नहीं है।

खाते-खाते भी तप कैसे ?

आप सोचेगे कि खाते-खाते भी तप कैसे हो सकता है? मानिये कि ऐसा तप होता है, इसीलिये मै कथन कर रहा हू। यह कथन मेरे मुह की बात नहीं है, परन्तु वीतराग देव की है। भगवान् महावीर ने तप एक ही प्रकार का नहीं, बल्कि बारह प्रकार का बताया है। इनमे से पहले प्रकार-अनशन पर पहले विचार किया गया है। इसी का दूसरा प्रकार बताया गया है-उणोदरी। उणोदरी वह तप है जिसका आराधन खाते-खाते किया जा सकता है। उणोदरी का अर्थ है कि जिस पुरुष की जितनी अपनी खुराक है, वह अपनी उस खुराक से कम खावे। अनशन मे भोजन का सर्वथा त्याग होता है किन्तु उणोदरी मे उसका आशिक त्याग ही होता है। कल्पना करे कि एक व्यक्ति की खुराक चार फुलको की है और अगर वह उणोदरी तप करना चाहता है तो वह दो फुलको को ग्रहण करे तथा दो का त्याग करे। इस तप से भी आत्मा का शुद्ध प्रणिधान बनता है। अपनी स्वाभाविक खुराक मे वह जितनी कमी करता है, उतना ही उसका उणोदरी तप बनता है। इस तप के पीछे लगे हुए विशेषणो को ध्यान मे लेने की जरूरत है।

उणोदरी तप की विशेषता इसमे है कि खाकर भी खाने की लोलुपता पर कैसे नियन्त्रण रखा जाय। उपवास मे नहीं खाना है तो सोच लिया जाता है कि नहीं ही खाना है किन्तु खाना खाने बैठकर भूख को रोकना और कम खाना अधिक कठिन भी हो सकता है। भोजन के प्रति लोलुपता छोड़ने की वजह से स्वाद पर भी विजय प्राप्त होती है। स्वाद के वश मे होकर ही खाने मे लोभ पैदा होता है और व्यक्ति अधिक खा लिया करता है, किन्तु कम खाने के तप मे इस लोभ को छोड़ना होता है। इस कारण धीरे-धीरे स्वाद की लोलुपता भी समाप्त हो जाती है। बारह प्रकार के तपो मे इस प्रकार यह दूसरे प्रकार का तप उणोदरी है जिसकी ओर लोगो का सामान्यतया ध्यान नहीं रहता है, इसी कारण शायद पहले प्रकार का तप-अनशन करते हुए गरिष्ठ पारणे की परिपाटी चल पड़ी है, वरना अनशन ही की तरह उणोदरी तप के आराधन का भी विवेक होना चाहिये।

खाते-खाते भी उणोदरी तप का आराधन ही हकीकत मे मनुष्य का यह सच्ची शिक्षा दे सकता है कि उसको जीने के लिये ही खाना चाहिये। जो जीने के लिये खाना खाता है, वह वास्तव में अल्पतम खाना चाहता है और उसमे स्वाद को तनिक भी महत्त्व नहीं देता। इसी दृष्टि से जीने के लिये खाना भी तप ही है और जीने के लिये खाने वाला खाते-खाते भी तप का ज्ञान एवं भावनापूर्वक आराधन कर सकता है।

जीने के लिये खाने वाले का एक और तप

बारह प्रकार के तप में तीसरे स्थान पर भिक्षाचरी तप का उल्लेख आया है। एक साधक साधु-जीवन को लेकर चल रहा है तथा वह अपने जीवन के अन्यान्य कार्यों मे व्यस्त रहता है किन्तु उसे उपवास, बेला, तेला आदि अनशन तप करने का प्रसंग नहीं आता है। वह बराबर अन्न ग्रहण करता है किन्तु इस भावना से कि उसे सिर्फ जीने के लिये ही खाना है। उसके लिये ऊपर की दृष्टि से यही मालूम होता है कि यह साधु कुछ भी तप और तपस्या नहीं करता। परन्तु ज्ञान-ध्यान में रत रहने से एक दृष्टि से देखा जाय तो उसका वह साधु जीवन तपमय जीवन होता है क्योंकि वह भिक्षाचरी का तप तो करता ही है। भिक्षाचरी का अर्थ होता है कि शास्त्रीय विधि के अनुसार मर्यादापूर्वक गृहस्थो के घरो से भिक्षा माग कर आहार-पानी लाना तथा उससे सन्तो को शान्ति पहुचाना। भिक्षाचरी की अवस्था को भी तप का एक प्रकार माना गया है।

अपने जीवन मे ऊचे नीचे परिणाम नहीं लावे। अपनी विधि से भिक्षा गृहण करनी हे, उसमे मान-अपमान का तनिक भी ध्यान नहीं रखना हे-यही भिक्षाचरी तप की विशिष्टता हे।

भिक्षाचरी तप की विशिष्टता

सम्मान से नहीं फूलना और अपमान से विचलित नहीं होना-यह भिक्षाचरी तप की प्रमुख विशिष्टता है, क्योकि इससे समभाव की साधना का अवसर मिलता हे। यदि किसी ने भिक्षा लेते समय ताना कसा और साधु को रोष आ गया और वह भिक्षा नही ले तो वह उस तप से नीचे गिरकर कर्म-बन्धन कर लेता है। अपमान को जीतने मे भी मन की अतुल शक्ति की आवश्यकता होती है। यह समभाव की स्थिति जो भिक्षाचरी के तप मे आवश्यक होती है, वह कई बार उपवास, बेला, तेला आदि अनशन तप मे नहीं देखी जाती है। आप कभी विचार कीजिये कि अनशन तप किया और उसमे मन, वचन, काया का कष्ट भी सहन किया, किन्तु जब उसके लिये जरा-सा भी सम्मान मिल गया तो मन फूल जाता है। यह समभाव की स्थिति नहीं है तथा इस अनशन से भी भिक्षाचरी के अपमान को जीतना अधिक कठोर होता है। यह तप दुनिया की दृष्टि मे दीखता नहीं है, किन्तु भिक्षाचरी का जो तप है, वह आत्मा का सशोधन करने की दिक्षा मे अधिक फलप्रद बनता है।

कोई भी तप हो उसकी शुद्धि तभी यथोचित रूप से सम्पादित की जा सकती है जब उसका मूल्याकन सही ढग से किया जाय तथा उसके आराधन मे रूढता न हो। सम्पूर्ण ज्ञान एव चैतन्यमय दृष्टि से तप का आराधन किया जाना चाहिये। यही कारण है कि इस भिक्षाचरी को भी भगवान् ने तप कहा है और इस तप को उन्होने साधु-जीवन के लिये ही अनिवार्य नहीं बताया, बल्कि यदि गृहस्थ भी चाहे तो भिक्षाचरी का तप ग्रहण कर सकता है तथा उसके सम्यक् पालन से अपने कर्म मैल को हटा सकता है। तप का प्रतिबोधन भगवान् ने आत्माओ के लिये किया-इसमे मुख्य पद मुनि का उनके सामने आया तो उसकी प्रमुखता आ गई किन्तु तप मुनियो के लिये ही हो ऐसी बात नहीं है। तप मानव मात्र के लिये हैं-अन्य प्राणी भी भावनापूर्वक ग्रहण कर सके तो उनके लिये भी है। कोई भी ग्रहण कर सकता है। इसी प्रकार यह भिक्षाचरी का भी तप है जो मुख्य एव अनिवार्य रूप से मुनि वर्ग के लिये है किन्तु गृहस्थ भी विशेष रूप से इस तप का आराधन कर सकता है। यह तप गृहस्थ के लिये अनिवार्य नहीं है।

गृहस्थ धर्म मे सामान्यतया भिक्षाचरी तप का आराधन नहीं होता है किन्तु उस उत्कृष्ट स्थिति मे जबकि वह पड़िमा (प्रतिमा) धारी श्रावक बनता है याने कि जब वह ग्यारह प्रकार की प्रतिमाओ की साधना करता है तो उसके लिये भिक्षाचरी तप का उल्लेख किया गया है। वह साधु की तरह सम्पूर्ण परित्याग तो नहीं करता, किन्तु साधु जीवन की दिशा मे मुड़ जाता है। वह साधु के वस्त्र तथा उपकरण आदि धारण कर लेता है और घर की बनी हुई भिक्षा भी ग्रहण कर सकता है। प्रतिमाधारी श्रावक एक प्रकार से गृहस्थ धर्म से ऊपर उठ जाता है

बिना आत्मा का पोषण सम्भव नही हे तो यह समझना भूल होगी। जिसमें अनशन तप करने की शक्ति नहीं है तो वह अन्न ग्रहण करके भी पौपध व्रत ले सकता हे ओर इसी को आंजकल दयाव्रत कहा जाता है। लेकिन दयाव्रत मे अन्न ग्रहण करने की परिपाटी आज की तरह नहीं होनी चाहिये। अन्न ग्रहण करना है केवल शरीर को चलाने के लिये-न कि जीभ का पोषण करने के लिये। जीभ का पोषण करने से आत्मा का पोषण नहीं होगा। अन्न ग्रहण जीने के लिये खाने के रूप मे होना चाहिये। खा रहे है शरीर को धर्म क्रियाओ मे काम मे लेने के लिये याने कि लक्ष्य खाने की तरफ न रहे बल्कि आत्मा की तरफ रहे। जब आत्मा के पोपण की तरफ सम्पूर्ण लक्ष्य हो और स्वाद लोलुपता को कतई छोड़ कर भूख से भी कम खाने या विनम्र भिक्षा के द्वारा खाने का क्रम चलाया जाता तो तब वह खाना जीने के लिये होता हे और ऐसा खाना भी तप ही कहलाता है।

दया व्रत की साधना

त्यागमय भोजन के साथ जो पौषध व्रत किया जाय तो वही दया व्रत की सची साधना होती है। इसमे एक करण एक योग से त्याग होता हे। और मन, वचन काया को दृष्टि से दो करण तीन योग से भी त्याग किया जा सकता है। यह उत्कृष्ट दया होती है। दया मे यदि कोई उसके घर का ही भोजन बना कर देता है तो वह उसको ग्रहण कर सकता है क्योकि इसमें अनुमोदन खुला रहता है। ऐसा भोजन धर्म स्थान पर भी किया जा सकता है किन्तु विधि-विधान का ध्यान रखा जाना चाहिये। जीमते वक्त पौषध की आराधना कैसे करना तथा जीमने के बाद उसकी आराधना कैसे करना इसके लिये ग्यारह सामायिक करने का विधान है। इस दृष्टि से खाते-खाते भी आत्मा का पोषण किया जाता है और यह श्रावक का दसवा व्रत कहलाता है। यह दया के रूप मे होता है। किन्तु जो पौषध व्रत मे अन्न ग्रहण नहीं करते-सिर्फ पानी पीते हैं, उनको भी दसवा पौषध ही पचक्खाया जा सकता है, ग्यारहवा पौषध नहीं। क्योकि ग्यारहवे पौषध मे अशन, पान, खादिम, स्वादिम चारो का त्याग आवश्यक होता है। अगर इसमे पानी खुला रखे तो पाच पहर का पौषध पचक्खाया जा सकता है कि पाच पहर के बाद वह पानी ले सकता है। सुबह पानी लेकर फिर पौषध पचक्खे तो वह उचित नहीं है। जिस प्रकार से त्याग की विधि शास्त्रो मे बताई गई है, उसी विधि से व्रत-ग्रहण होना चाहिये-उसमे इधर-उधर की गलिया नहीं निकालनी चाहिये।

श्रावक विधि के अनुसार जो तप करता है, वही सचे अर्थो मे तप कहलाता है। श्रावक दया करता है और उसमे साधु की तरह भिक्षा लाने की सोचे तो वह उचित नहीं है क्योकि उसी श्रावक के लिये भिक्षाचरी का विधान है जो प्रतिमाए धारण कर लेता है। प्रतिमाधारी श्रावक ही भिक्षाचरी तप का आराधन कर सकता है। प्रत्येक प्रकार के तप के आराधन मे तप की भावना और विधि का होना आवश्यक है। अनशन ही एक मात्र तप नहीं है, उणोदरी भी है, भिक्षाचरी भी है तथा अन्य प्रकार भी है किन्तु तपाराधन मे महत्वपूर्ण मन स्थिति होती

12

स्वाद-जय की भूमिका ·

रस परित्याग

- तप साधना आत्मा के मलीन भावों को नष्ट करती है।
- दूध, दही, घी, तेल आदि विगयों का त्याग करना रस परित्याग कहलाता है।
- रस परित्याग स्वाद-जय का मूल मार्ग है।
- रस परित्याग आत्म शुद्धि का ठोस धरातल तैयार करता है।
- रस परित्याग ही मूल मंत्र है। तप साधना और आत्म आराधना का।
- पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षा व्रत आदि के परिपूर्ण पालन में रस परित्याग ही मूल है।
- समूची तप-त्याग की साधना-प्रणालिका फूल, पत्ते और फल हैं परन्तु इनकी जड़ रस परित्याग है।
- रस परित्याग से ही आत्मबल के [illegible] के लिए [illegible] है।
- पांच इन्द्रियों में रसना इन्द्रिय का निग्रह [illegible] है, [illegible] है।

- जीवन पवित्र, परिवार में पवित्रता, सामाजिक वायुमण्डल शुद्ध, राष्ट्रीय धरातल पर अनैतिकता का सफाया और सम्पूर्ण विश्व में शांति का साम्राज्य स्वाद-जय की भूमिका पर ही संभव है ।
- स्वतन्त्र साधना स्वच्छन्द भी बन सकती है ।
- एकाकी साधना का अर्थ अपूर्ण अवस्था ।
- स्वाद पर जय प्राप्त करना, रस का परित्याग करना ही समता भाव है ।

स्वभाव की दिशा मे मोड़ने वाला सशक्त माध्यम होता है। इस माध्यम की सहायता से आन्तरिक शक्तिया विकारो से उन्मुक्त बन कर उर्ध्वगामी बनती है। यही उर्ध्वगामिता आत्मा के लिये आन्तरिक शान्ति के द्वार खोलती है। शान्ति का पवित्र स्वरूप जब प्रकट होता है, तब फिर वहा किसी प्रकार की अशान्ति का प्रसग नहीं रहता है। अपने स्वभाव को पहिचान जाने पर और उसमे सतत रमण करने पर फिर अन्त करण मे शान्ति एव आनन्द का अखण्डित प्रवाह चलता रहता है।

स्वभाव-दशा मे रमण करने वाली आत्मा के सामने अशान्ति के कितने ही निमित्त आवे- वह अशान्त नहीं बनती है। निमित्त तभी सफल होता है, जब उपादान दुर्बल होता है। यदि उपादान सशक्त बना रहता है तो वहा निमित्त को अपना कुछ भी कार्य कर सकने का अवकाश नहीं रहता है। निमित्त और उपादान का प्रसग अपूर्ण अवस्था मे ही विशेष सफल होता है। परिपूर्ण शुद्ध-अवस्था पाने के बाद इनका कोई प्रयोजन नहीं रहता। न उपादान के कथन का प्रयोजन है, न निमित्त का प्रसग है। शुद्ध प्रारम्भिक अवस्था प्रथम समय मे थी-वही सिद्धो के लिये भी निमित्त रूप होती है। जिस शरीर के निमित्त से आत्म-प्रदेशो का दो तिहाई भाग में सकुचन होना और उसकी गति के माध्यम से धर्मास्तिकाय की स्थिति से अधर्मास्तिकाय की स्थिरता मे ढलना- यह उस शरीर का निमित्त प्रथम क्षण के लिये है। प्रथम समय की शुद्धि मे कथन किया जा सकता है, परन्तु उस समय के बाद उनमे उस अवस्था का कथन नहीं है। वह अवस्था उस शुद्ध प्रणिधान के साथ सटती हुई चली जाती है। उस शुद्ध अवस्था मे प्रथम समय को छोड़कर द्वितीय अवस्था है और द्वितीय के बाद सिद्धो के लिये वही अवस्था है। तब उन सिद्ध आत्माओ मे शुद्ध प्रणिधान के माध्यम से शान्ति का परम स्वरूप निखर उठता है। उन सिद्ध आत्माओ के समक्ष अशान्ति के घोरतम निमित्त भी यदि उपस्थित हो जाय तब भी सिद्धात्मा के अनन्तवे से अनन्तवे भाग मे भी अशान्ति का अश पैदा नहीं होता है। उस पूर्व की अवस्था का ख्याल रख करके जब साधक अपनी वर्तमान अवस्था मे अपने उपादान, निमित्त, सहकारी कारण सामग्री एव पुरुषार्थ का सयोग मिलाकर अपनी आन्तरिक जागृति लाता है तब उसका प्रणिधान शुद्ध बनता है एव वह अपनी स्वभाव-दशा को प्राप्त होता है।

तप साधना से लक्ष्य की ओर गति

शुद्ध प्रणिधान एव मूल स्वभाव दशा की प्राप्ति सहसा नहीं हो जाती है। आन्तरिक जागृति के लिये कठिन प्रयास करना होता है। जिस अशुद्ध प्रणिधान के कारण आत्मा की अनादिकालीन दशा मलिन भावो के साथ चल रही है, उन मलिन भावनाओ को तत्काल हटा देना कोई बच्चो का खेल नहीं है। इसमे अनुकूल वायुमण्डल की अपेक्षा रहती है और साथ ही निमित्त शक्ति की भी आवश्यकता होती है जो उपादान का उस रूप मे निर्माण करे। तब साथ मे सहकारी कारण सामग्री एव पुरुषार्थ का बल जुड़ता है तो साधना का सफल रूप सामने आता है।

नीरस भोजन से स्वाद-जय

भोजन मे से रस का त्याग कर लेगे तो जो बचेगा, वह नीरस भोजन होगा। भोजन में विभिन्न प्रकार के जिन रसो का मिश्रण किया जाता है, उसका प्रमुख उद्देश्य ही यह होता हे कि रसो के सयोग से भोजन स्वादिष्ट, रसदार, ओर जायकेदार बने। रसना की रसिकता यह होती है कि वह स्वादिष्ट भोजन अधिक पसन्द करती है। यो कहे तो भी चलेगा कि रसना सदा स्वादिष्ट भोजन के लिये लालायित रहती है। मोटे तौर पर स्वाद कोई बड़ी बात नहीं लगती, किन्तु सभी जानते है कि मनुष्य के जीवन मे स्वाद का कितना वड़ा प्रलोभन होता हे और स्वादिष्ट भोजन का रसिक बनकर वह कहा-कहा किन-किन विकारो मे अपने आपको फसाता है? कहा गया है कि कबूतर ककर चुग कर भी काम की मार से नहीं बच पाता है तो जो स्वादिष्ट और उत्तेजक भोजन करता है, वह काम के वशीभूत होकर किस सीमा तक आत्मपतन की गहराइयो मे डूबता जाता है?

यही कारण है कि सभी महापुरुषो ने जीवन मे शुद्धाचरण के लिये स्वाद को छोड़ने और सादा भोजन ग्रहण करने की बात कही है। किन्तु महावीर ने जो रस परित्याग का तप बताया है, वह और भी आगे बढाने वाला है। जब तक कोई आकर्षण होता है मनुष्य का मन चचल बनता रहता है, किन्तु अगर आकर्षण को ही समाप्त करदे तो वह चचलता भी स्वत ही समाप्त हो जायगी। भोजन का आकर्षण होता है-रस और इसलिये आत्मशुद्धि की ठोस भूमिका तैयार करने के लिये रस के ही परित्याग का निर्देश दिया गया तथा इसको तप बताया गया। जब नीरस भोजन ही करना कोई अपना क्रम बना लेता है तो उसकी जिह्वा भी चचलता छोड़ देती है। वह बिना किसी लोलुपता के उस नीरस भोजन को ग्रहण करती है और समभाव से उसका आस्वादन लेती है। स्वाद-जय इसी अवस्था का नाम होता है जब रचमात्र भी यह ख्याल या अनुभव नहीं होता कि वह खाने के लिये जी रहा है। तटस्थ भाव यही बना रहता है कि मुझे जीने के लिये खाना है। नीरस भोजन के माध्यम से स्वत स्वाद-जय के लक्ष्य तक पहुचा जा सकता है। इस दृष्टि से स्थूल दृष्टि से आगे बढ़कर जब सूक्ष्म दृष्टि से रस-परित्याग के तप की महत्ता का विश्लेषण किया जायगा तो अपने आप समझ मे आ सकेगा कि यह तप स्वाद-जय की उपलब्धि कराता हुआ मनुष्य के जीवन मे आत्म-शुद्धि का ठोस धरातल तैयार करता है।

समग्र त्याग का सार-रस परित्याग

रस परित्याग की स्थूल परिभाषा तो अत्यन्त सरल प्रतीत होती है कि एक या दो विगह का त्याग कर दिया जाय, किन्तु सूक्ष्म रस परित्याग की स्थिति अति कठिन होती है। रस परित्याग के तप मे एक दृष्टि से देखा जाय तो समग्र त्यागो का सार समाया हुआ है। जितनी भी त्याग वृत्तियो का शास्त्रो मे उल्लेख है, जैसे पच महाव्रत, पाच समिति-तीन गुप्ति, पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत आदि, तो इन सब त्यागो और इनके भेद-प्रभेदो का

हैं, किन्तु सन्त समागम मे आकर प्रश्न चर्चा की भी आदत होनी चाहिये। सोचे हुए पर प्रश्न पूछना-यह शुभ चिह्न है, क्योकि उससे समाधान का मार्ग खुलता है। जो ऐसा समाधान नहीं करके शकाओ के साथ अपने मन ही मन मे घुटते रहते है, वे अपने अन्त करण की कलियो को खोलने मे भी समर्थ नहीं होते है। स्वाध्याय व चिन्तन-मनन के साथ प्रश्न चर्चा का भी क्रम बनाये रखना चाहिये जिससे किसी भी तत्त्व की व्यापकता एव गहनता का आभास होता है, उसके अनुकूल चरित्र-साधना की वृत्ति ढलती है तथा इस प्रकार आत्म-शुद्धि का मार्ग प्रशस्त बनता है।

रस-परित्याग की व्यापकता और गहनता यही है कि स्वाद-जय का मुख्य आधार इससे बनता है, जिस पर शुद्ध प्रणिधान, शान्ति एव आत्मिक-शुद्धि का उच्च प्रासाद निर्मित किया जा सकता है। आप प्रश्न कर सकते हैं कि आत्मा का शुद्धिकरण किस प्रकार से होता है? रोग का सही निदान करके जब सही औषधि का सेवन किया जाता है, तभी औषधि राम-बाण की तरह काम करती है। अगर रोग का निदान ही न हो तथा अच्छी-अच्छी औषधिया सेवन करते रहे तो क्या रोग नष्ट हो सकेगा? इसी प्रकार आत्मा की अशुद्धि भी एक रोग है और इस रोग का जो निदान केवलज्ञानियो ने दिया है और उसकी जो औषधि बताई है-वही सच्चा निदान एव सच्ची औषधि है। केवलज्ञान एव केवल दर्शन पर आरुढ़ होकर उन्होने समग्र लोक एव उसकी सर्वव्यापक गतिविधि तथा प्राणियो के कार्यकलापो को हस्तामलकवत् देखा है और उसके बाद ही उन्होने आत्मा की अशुद्धि के रोग को परखा है व उसके मूल पर प्रहार किया हे। इस रोग का मूल बाह्य पदार्थों की आसक्ति मूर्च्छा मे है। आत्मा को अशुद्ध वनाने वाली यही मूर्च्छा भावना है। यही मूर्च्छा भावना मन को अनियन्त्रित चपल तुरग की तरह चारो ओर दोड़ती है तो इन्द्रियो को बेकाबू बनाती है। मन और इन्द्रिया नियन्त्रण से वाहर होकर जिस प्रकार वासनाओ व विकारो का कर्म मैल सचित करती हैं, वही आत्मा को निरन्तर अशुद्ध एव अधोगामी बनाता रहता है।

रसना इन्द्रिय की मूर्च्छा

इन्द्रिया पाच मानी गई हैं किन्तु मनुष्य जीवन मे बारीकी से देखा जाय तो आत्मा की मूर्च्छा भावना का प्रारम्भ रसना इन्द्रिय से होता है। पाचो इन्द्रियों मे यह जिह्वा ही सारी मूर्च्छा का मूल स्त्रोत है। रसना इन्द्रिय की मूर्च्छा धीरे-धीरे फैलती हुई आत्मा की मूर्च्छा बन जाती हे। रसना के माध्यम से जव स्वाद ले लेकर खाद्य पदार्थों को ग्रहण किया जाता हे, तव वे पदार्थ शरीर के अन्दर जाकर विभिन्न रासायनिक प्रक्रियाओ के साथ अन्य इन्द्रियो को उत्तेजित करते हें। अन्य इन्द्रियों के द्वारा अन्य पदार्थो को आसक्तिपूर्वक भोगने का अवसर भी तभी आता हे, जव रसना इन्द्रिय आसक्तिपूर्वक स्वादिष्ट पदार्थो को ग्रहण कर लेती हे क्योकि भूखे पेट दूसरे फितूर तो अलग रहे-भगवान् का भजन भी मुश्किल से होता हे। इस कारण यदि प्रारम्भ में इस रसना इन्द्रिय का ही पोषण नहीं किया जाय इसे ही नीरस

स्वाद-जय सरल उपलब्धि नहीं होती है। स्वाद को जीतने मे भी एक सतत साधना करनी पड़ती है। गर्म पानी का जायका और ठडे पानी का जायका अलग-अलग होता है। जो स्वाद जीभ को कच्चे पानी मे आता है, वह उसे पक्के पानी या धोवन पानी मे नहीं आता। जो हरी सब्जी मे जायका आता है, वह दाल मे नहीं आता और जो घी-तैल व मिर्च-मसालो के छौंक मे जायका आता है वह बिना छौक की सब्जियो या दाल मे नहीं आता। इस कारण हरी वनस्पतियो का त्याग भी किस दृष्टि, भाव एव स्थल पर कराना चाहिये-यह भी विवेक का विषय है। इस त्याग के पीछे भी सदा सही दृष्टिकोण रहना चाहिये। जहा एक ओर पदाथो के त्याग पर बल दिया जाय और दूसरी ओर उसके प्रति आसक्ति बढ़ रही हो तो वैसा त्याग फलदायक नहीं बनता। आसक्ति की अधिकता रहेगी तो इन्द्रियो और मन की उत्तेजना मे कमी नहीं लाई जा सकेगी। इसलिये प्रत्येक त्याग की भावनात्मक गहराई मे उतरने की जरूरत रहती है क्योकि उसी के आधार पर एक साधक अपनी साधना को पुष्ट एव सफल बना सकता है। जिस साधक को इस विषय का विज्ञान नहीं है, वह भले ही परिवार का सुख, ससार की मोहमाया और सम्पत्ति का स्वामित्व छोड़ कर निकला हो, किन्तु यदि वह रस परित्याग की महत्ता को जानता, मानता और अपनाता नहीं है तो उसकी साधना मूल को छोड़ कर फूल पत्तियो की साधना ही रहेगी, क्योकि जिह्वा की स्वाद-लोलुपता उसको कभी भी पतित बना सकती है। इस कारण साधना को यदि सर्वांगत सफल बनानी है तो एक साधक स्वाद-जय की भूमिका पर पहले मजबूती से खड़ा हो और फिर आगे बढे।

मूल और फूल पत्ती साधना का दृष्टान्त

एक साधक अपनी साधना के उच्च स्तर पर आरूढ होकर विचारने लगा कि वह शान्ति का दर्शन करे। वह ससार और उसकी सारी भोगसामग्री को त्याग करके सुदूर वन प्रान्तर की एक पर्वत-गुफा मे चला गया और योग साधना मे जुट गया। शान्ति-लाभ की जिज्ञासा से उसने अन्न का भी त्याग कर दिया। वह अपनी साधना मे एकाकी चल रहा था-उसके लिये उसने न तो सही ज्ञान का आधार लिया और न ही किसी श्रेष्ठ गुरु का माध्यम पकड़ा। उसने सोचा कि अन्न त्याग दिया है तो मुझे भोजन सामग्री मे क्या लेना चाहिये? वह जगल मे अपनी भोज्य सामग्री की तलाश करने लगा। वह वृक्षो की छालों को देखने लगा। एक वृक्ष की छाल हटा कर उसने उस पर अपनी जीभ फिराई और स्वाद ठीक समझ कर उसने उस वृक्ष का रस चाटना शुरु किया। वह भूखा होने पर उस वृक्ष का रस चूसता और फिर गुफा मे जाकर अपनी साधना मे लग जाता।

यद्यपि वह वन प्रान्तर का एकान्त भाग था, फिर भी कुछ लोगों ने पता चला ही लिया कि एक योगी अमुक वृक्ष का रस चूसता है और गुफा मे साधना करता है। बात चारो ओर फैली, योगी की प्रशसा होने लगी और झुड के झुड लोग योगी के दर्शन के लिये एकत्रित होने लगे। यह खबर उस प्रदेश के राजा तक भी पहुची। उन्होने अपने दीवन से कहा कि ऐसे ऊचे

पकवान खिलाये। स्वाद का लोलुप साधक उन्हे खाता गया। उसकी रसना अनियन्त्रित हो गई। रसना की मूर्च्छा के साथ ही अन्य इन्द्रिया और मन भी मूर्च्छा मे डूबने लगा। भोग की सारी सामग्री वहा थी-साधक अब योग से भोग मे रमण करने लगा। साधक से वेश्या को सन्तान भी हो गई। बच्चे को एक दिन पालने मे झुलाते हुए वेश्या ने आग्रह किया कि अब तो वह वन मे अकेली नहीं रहेगी,अपनी निवास स्थान पर लौट जायगी। साधक अब कहा साधक था? बच्चे को उठा कर वह भी पीछे हो लिया। सारी तैयारी थी ही-साधक को राजभवन मे पहुचा दिया गया। दीवान ने राजा को बता दिया कि एकाकी साधना अपूर्ण अवस्था में तथा स्वाद लोभ मे कहा से कहा पहुच गई है?

साधना, अनुशासन और इन्द्रिय-दमन

शास्त्रकारो ने अपूर्ण अवस्था मे साधना की विधि ही यह बताई है कि वह एकाकी न रहे-यदि साधु है तो दो से कम नहीं और साध्वी हैं तो तीन से कम साथ के न रहे जिससे अनुशासन और देखरेख रह सके। एकाकी साधना मे साधक कब फिसल जाय-पता नहीं चलता और उसे उस फिसलन से बचाने वाला भी कोई नहीं मिलता। इस कारण साधना अनुशासनबद्ध होनी चाहिये क्योकि ऐसे वातावरण मे ही इन्द्रिय दमन की शक्ति सजग बनी रहती है।

साधना के मार्ग को दुधारी तलवार के समान कठिन बताया गया है ती तलवार की धार स्वाद ही है जिसके कटाव से बच कर निकलने से ही साधना मे पूर्णता प्रकट होती है। स्वाद की दृष्टि से ही इस कारण प्रत्येक प्रकार के त्याग पर विचार करना चाहिये, जैसे हरी वनस्पति के त्याग मे हिसा-अहिसा का प्रश्न है तो स्वाद-जय का दृष्टिकोण भी उतना ही प्रमुख रहना चाहिये। किसी भी वस्तु को जितना जायका ले लेकर खाते है, उतने ही चिकने कर्मों का बन्धन होता है। एक तुलना करे कि एक की थाली मे आमरस का कटोरा है और दाल का कटोरा भी रखा है। जहा तक दाल बनाने का प्रश्न है, उसमे छ काया के जीवो का आरम्भ-समारम्भ हुआ है और आमरस तैयार करने मे सिर्फ गुठली के जीव को ही कुछ कष्ट हुआ है। उसके पास ही दूसरा भी रोटिया खाने बैठा मगर उसके पास लगावन कुछ नहीं है। वह पहले व्यक्ति से कुछ लगावन देने का कहता है तो सोचिये, वह उसको कौनसा लगावन अपनी इच्छा से देगा-आमरस का कटोरा या दाल का कटोरा ? दाल को तैयार करने मे ज्यादा हिसा हुई है, मगर जायका किस मे ज्यादा आता है? खानी तो रोटिया है, किसी भी लगावन से खाई जा सकती है अगर आसक्ति न हो। मगर रसना की आसक्ति हिसा-अहिसा को भी नहीं देखती। इसलिये अहिसा का पालन और साधना द्वारा इन्द्रिय दमन भी स्वाद-जय पर निर्भर करता है। आसक्ति का त्याग मुख्य है। जैसी आसक्ति हरी वनस्पति के साथ है और अगर उससे भी अधिक आसक्ति सूखे पदार्थों के साथ रही हुई हो तो हरी का त्याग भी उतना महत्वपूर्ण नहीं बनता है। यही कारण है कि रस परित्याग का तप अति महत्वपूर्ण है, क्योकि इससे स्वाद की आसक्ति छूटती है।

13

काया क्लेश का लक्ष्य आत्म-शुद्धि

✲ पाद विहार, भिक्षाचरी, केश-लुचन आदि काया क्लेश तप से जीवन में नई उर्ध्वगामी पवित्रता का सचार होता है ।

✲ जीवन की प्रत्येक क्रियाए धर्म क्रिया के अनुरूप होनी चाहिये ।

✲ दृष्टि की सृष्टि बदली तो समस्त जीवन क्रम बदल जायेगा ।

✲ ज्ञान पूर्वक जीवन क्रम में परिवर्तन से ही काया क्लेश तप की आराधना होती है ।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

परम आत्म शान्ति की अवस्था को प्राप्त करने के लिये मन के परीक्षण द्वारा शुद्ध प्रणिधान के सम्बन्ध मे चिन्तन किया जा रहा है। शुद्ध प्रणिधान जब आत्मा को प्राप्त होता है तो समझिये कि उसने जीवन का सम्पूर्ण सार पा लिया है, किन्तु शुद्ध प्रणिधान की प्राप्ति ही अति कठिन साधनाजन्य होती है। जीवन में इस शुद्ध प्रणिधान को प्राप्त करने के लिये सर्व प्रथम शरीर को ही माध्यम बनाना पड़ता है। हमारा यह मानव शरीर आत्मिक और धार्मिक साधना का सर्वोधिक महत्वपूर्ण साधन होता है। मानव शरीर जो बाहर से साधारण दिखाई देता है, अपनी सगठन शक्ति एव कर्मण्यता मे अद्‌भुत होता है। हमारे और आप सभी के शरीर के भीतरी आवरण का मुख्य अग द्रव्य मन होता है और इसी द्रव्य मन की स्थिति के साथ भाव मन को पकड़ने का प्रयास किया जाता है। आत्मा की शक्ति भाव रूप में प्रवाहित होती हुई द्रव्य मन को सचालित करती है और द्रव्य मन के माध्यम से मानव-शरीर को प्रभावित करती है।

जीवन में आत्मा से लेकर शरीर तक का सारा सम्बन्ध इस प्रकार जुड़ा रहता है। शारीरिक प्रक्रियाए भी कई प्रकार से होती हैं, जिनमे बाह्य प्रक्रियाए तो दिखाई देती हैं किन्तु मन के माध्यम से चलने वाली प्रक्रियाए तो भीतर ही भीतर चलती रहती है। यह भीतरी दृष्टि से चलने वाली प्रक्रियाए द्रव्य मन की होती हैं, किन्तु भाव मन की शक्ति उससे भी बढ़कर होती है और इन सब की सचालन शक्ति आत्मा के पास रही हुई हैं। इन सबका सम्बन्ध मत्रवत् जुड़ा रहता है। जैसे बाहर से एक मोटर कार दौड़ती हुई दिखाई देती है, किन्तु उसका सम्बन्ध पहियो के साथ होता है तो पहियों का सम्बन्ध इजिन के साथ होता है। इजिन का सम्बन्ध ड्राइवर के साथ होता है। यदि ड्राइवर नहीं चलावे तो इजिन नहीं चलेगा। इजिन नहीं चले तो न पहिये चलेंगे और न कार दौड़ेगी। पारस्परिक सम्बन्धो का यह एकदेशीय उदाहरण है, किन्तु इस उदाहरण से आत्मा व शरीर के पारस्परिक सम्बन्धों तथा तज्जन्य प्रक्रियाओं की जानकारी की जा सकती है। उदाहरण तो सिर्फ समझाने के लिये हैं, परन्तु इस उदाहरण तक ही सीमित नहीं रहना है। इसको जीवन पर घटाकर मानव जीवन एव तन के महत्व को समझना है। मनुष्य के जो पैर गति करने वाले हें- ये पहियों की तरह हैं, लेकिन इन पेरों को गति कराने वाला द्रव्य और भाव मन है, जिसका ड्राइवर आत्मा हे। इस आत्मिक शक्ति से पैरों में शीघ्र गति करने की भी क्षमता आती है।

इस प्रक्रिया से सिर्फ इतना मात्र नहीं समझना चाहिये कि पैर चल रहे है तो यह केवल बाहरी क्रिया ही हो रही है और आत्मा का इस क्रिया से कोई सम्चन्ध नहीं है। आपके समझने की बात यह है कि चाहे क्रिया बाहरी हो या भीतरी कोई भी क्रिया बिना आत्मा के सचरित ही नहीं होती है। जितनी भी क्रियाए है, वे शरीर के माध्यम से आत्मा का ही शक्ति स्वरूप प्रदर्शित करती है।

शरीर श्रम का आध्यात्मिक रूप

ये जो सारे क्रिया कलाप है, वे शरीर के माध्यम से चलते है। इसे हम शरीर का श्रम कह सकते है, किन्तु शरीर श्रम की प्रवृत्ति अधिकाधिक वढे और वह श्रम आध्यात्मिकता से सम्बन्धित हो-इस ओर क्रिया-कलापो की गति अवश्य मुड़नी चाहिये। काया की तमाम प्रवृत्तियो की मूल सचालक चैतन्य शक्ति होती हे। यही चैतन्य शक्ति विकारपूर्ण दशा मे अशुद्ध प्रणिधान मे बहती है, जिसे आत्म-शुद्धि की दिशा मे मोड़ कर शुद्ध प्रणिधान के निर्माण में सहायिका बनानी चाहिये। शुद्ध प्रणिधान ओर आत्मा का शुद्धिकरण-ये अन्योन्याश्रित स्थितिया होती है।

आत्मा के शुद्धिकरण अभियान मे जो त्याग और तप के प्रसग हैं, इनके बाह्य रूपों की दृष्टि से मानव-तन का इसमे बहुत बड़ा योग होना चाहिये। त्याग या तपाराधन मे शरीर को जो भी श्रम करना पड़ता है या कि कष्ट देखना पड़ता है, उस काया-क्लेश का अभिप्राय शरीर को कष्ट पहुचाना बिल्कुल नहीं, बल्कि उसके जरिये आत्मा को परम् शुद्ध बनाना ही होता है। और जब इस उद्देश्य के साथ काया क्लेश का तप किया जाता है तो वह वास्तव मे एक तप कहलाता है । यही तप हमारे शरीर श्रम के आध्यात्मिक रूप को प्रकाशित करता है।

आप देखते होगे कि जिन सुकुमार व्यक्तियो ने अपने कोमल शरीर को कभी भी किसी प्रकार का कष्ट नहीं होने दिया होगा और जिन्होंने जूते व बूट अपने पैरो मे पहिन कर भी कभी अधिक चलने की कोशिश नहीं की होगी, उन्हे ही जब आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान की लगन लग जाती है और उसके लिये एक तड़प पैदा हो जाती है तो वे ससार के सारे सुखो को छोड़ कर मुनि धर्म अगीकार करते है तथा अधनगे बदन और नगे पैरो से हजारो कोसों का परिभ्रमण करते है। कटीले और पथरीले मार्गो पर वे गति करते है- उनके पैर लहूलुहान हो जाते है, फिर भी वे अपने उद्देश्य के प्रति विचलित नहीं होते हैं। साधारण व्यक्ति सोचते होगे कि शुद्ध प्रणिधान के लिये इतना अधिक कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है अथवा आत्म-शुद्धि की साधना राजभवनो का सुख उठाते हुए क्यो नहीं की जा सकती है? जान-बूझ कर ऐसा शरीर-कष्ट क्यो मोल लिया जाता है? एक तो खुले पैरो से पैदल भ्रमण करना, फिर कहीं पानी मिला या नहीं मिला तो प्यास का कष्ट सहन करना और भूख, गर्मी, सर्दी की विकटताओ को सहते हुए केश लुचन का कष्ट भी देखना-ये सब प्रक्रियाए क्यो की जाती हैं?

आत्म-शुद्धि करनी है तो भावों के साथ ही उसकी शुद्धि क्यों नहीं कर ली जाय? आत्म-शुद्धि के साथ शरीर कष्ट की इन सारी प्रक्रियाओं का क्या सम्बन्ध है? ऐसे कई प्रश्न ज्ञान दशा के अभाव मे साधारण व्यक्तियों के सामने उपस्थित हो जाते हैं, जिन पर इन प्रक्रियाओं के आन्तरिक महत्व की दृष्टि से आध्यात्मिक चिन्तन किया जाय, तभी काया-क्लेश का मर्म स्पष्ट हो सकेगा।

काया-क्लेश के तप का महात्म्य

आत्म-शुद्धि का भार मानव शरीर को ही मुख्य रूप से ओढ़ना पड़ता है। जब सारी क्रियाए आत्मा के सचालन मे शरीर के माध्यम से होती है तो त्याग और तप की क्रियाए भी शरीर ही के माध्यम से की जायगी। बारह प्रकार के तपों मे पाचवे क्रम पर इसी कारण से काया क्लेश के तप का उल्लेख है, जिसका अभिप्राय यह है कि काया को जो क्लेश या कष्ट देना है, उसका एक मात्र उद्देश्य आत्म-शुद्धि की अवस्था को प्राप्त करना है। काया क्लेश के तप का इसी दृष्टि से अपूर्व महात्म्य माना गया है।

जब आराम दायक और ऐश्वर्यपूर्ण कोमलता भरी परिस्थितियों में रहने वाले व्यक्तियो ने भी इस दिशा में गहरा अनुसधान किया तथा आत्म-शुद्धि करने का अपना दृढ़ सकल्प बनाया तो वे भी काया क्लेश के तप के सारपूर्ण महात्म्य को समझ कर शरीर कष्ट के मार्ग पर निडर होकर चल पड़े। ऐसे पुरुषार्थ व्यक्तियों की सामान्य रूप से चर्चा न भी करें, किन्तु जिन शान्तिनाथ भगवान् की प्रार्थना की जा रही है, वे कौन थे और ज्ञान व भावना के साथ उन्होंने किस प्रकार शरीर कष्ट सहे तथा सर्वोच्च आत्म-शुद्धि सम्पादित की? शान्तिनाथ प्रभु तीर्थंकर हुए, जिन्होने माता के गर्भ से ही तीन ज्ञान पाये और जिनका जीवन सुकुमार था-भौतिक सत्ता एव सम्पत्ति से सम्पन्न था, उन्होंने भी जब सोचा कि मैं शुद्ध प्रणिधान प्राप्त करके परम शान्ति का लाभ लूगा तो उन्होंने अपनी सम्पूर्ण भौतिक सत्ता एव सम्पत्ति तथा कोमलतापूर्ण जीवन का परित्याग कर दिया। यही नहीं, उन्होंने साधु जीवन के कठोर कष्टों को भी हर्षपूर्वक अपनाया कि उनके माध्यम से आत्म-शुद्धि का कार्य भली प्रकार सम्पन्न हो सकेगा।

पाद-विहार, भिक्षाचरी, केश-लुचन आदि की कष्टप्रद प्रक्रियाए कोई आज नई नहीं है। ये सभी प्रारम्भ से ही चल रही हैं और तीर्थंकर भी इन प्रक्रियाओं को अपनाते हुए चलते आये हैं।

काया क्लेश के तप से सम्बन्धित इन सभी प्रक्रियाओं पर जब बारीकी से विचार किया जायगा तो स्पष्ट होगा कि शुद्ध प्रणिधान की उपलब्धि के लिये इस तप की परम आवश्यकता है। अनशन तप की दृष्टि से तीर्थंकरों ने भी एक उपवास से लेकर बारह-बारह माह तक का भी तपाराधन किया है। परन्तु अनशन के साथ उणोदरी, भिक्षाचरी, रस-परित्याग आदि तपों पर आचरण करते हुए उन्होंने काया क्लेश के तप को भी अपने जीवन मे पूरी तरह से उतारा। इस मानव-शरीर को ज्ञानपूर्वक ऐसे श्रम मे लगाना जिसका उद्देश्य आत्म-शुद्धि हो

तो ऐसा सारा श्रम काया क्लेश तप के अन्तर्पेटे मे ही आता हे। काया क्लेश तप जीवन मे नई उर्ध्वगामी पवित्रता का सचार करने वाला होता हे।

काया-क्लेश के विभिन्न प्रकार

जैसे रसना इन्द्रिय की मूर्च्छा हटाने के लिये रस-परित्याग का विशेष महत्व ह, उसी प्रकार काया क्लेश के तप से शरीर की मूर्च्छा हटती हे तो शरीर के प्रति रहने वाली मूर्च्छा भी समाप्त होती है। यह तप शरीर-मोह को जर्जरित वनाने वाला होता हे। अन्त करण के प्रणिधान को शुद्ध बनाने की दृष्टि से माजने हेतु ज्ञानपूर्वक इस शरीर को तपाया जाता हे। पाद विहार करने मे जहा जीवो की रक्षा का प्रसग है तो उसी प्रकार शरीर को कष्ट देकर आत्माभिमुखी वृत्तियो को जागृत बनाने का भी पाद विहार का उतना ही लक्ष्य होता हे। इसलिये पाद विहार काया क्लेश है और तप है। मुनिराज दीक्षा लेकर जो पेदल परिभ्रमण करते हें, वे भिन्न-भिन्न प्रकारो से अत साधना ही करते हे। वे ग्रामानुग्राम उग्र विहार करते हैं तो उग्र का यह अर्थ नहीं कि वे भागते-दौड़ते है। उग्र का अर्थ हे कि वे आत्म-रमण की मस्ती के साथ अधिकाधिक परिभ्रमण करते हुए अधिकाधिक जन-सम्पर्क साधकर जन मानस मे से अशुद्धि को निकालने का कठिन प्रयास करते है।

मुनियो के लिये पाद-विहार का प्रयोजन यह भी होता है कि वे छोटे से छोटे स्थान पर जाकर भी व्यक्तियो के जीवन मे फेलने वाली अनेतिकता को दूर करने का उपदेश दे। यह काम किसी एक केन्द्र पर बैठ कर नहीं किया जा सकता हे। इस कारण सन्तो के लिये प्रावधान है कि वे चातुर्मास समाप्ति के बाद आठ विहार व एक विहार पुन चातुर्मास मे पहुचने के लिये- इस प्रकार नौ विहार कम से कम करे ही। इस प्रकार नौ-कल्प विहार होना चाहिये। इसका कारण है कि वे अनेकानेक गावो मे स्पर्शना कर सके, तो यह जो स्पर्शना होती है, वह तप है। कभी-कभी भाई देखते हैं कि महाराज बडा कष्ट उठा रहे है तो यह सही नहीं है। अगर इसको कष्ट समझा जायगा तो फिर विहार ही नहीं करेगे। आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान को पाने के लिये मुनियो द्वारा देखा जाने वाला यह कष्ट सही तौर पर कष्ट की परिभाषा मे नहीं आता है, बल्कि काया क्लेश तप की परिभाषा मे आता है।

यह याद रखिये कि शरीर के प्रत्येक परमाणु स्कन्ध के साथ आत्मप्रदेश है और सभी प्रदेशो को उज्ज्वल बनाकर शुद्ध प्रणिधान प्राप्त करना है तो उस भावना के साथ शरीर के कष्ट को कष्ट नही समझा जाना चाहिये। इस शरीर कष्ट को आत्म-शुद्धि का साधन मानकर चलना चाहिये। पैदल चलते-चलते ऊबड़-खाबड़ जमीन आती है और उस पर चलना मन को पसन्द नहीं होता है क्योकि शरीर तो गादी तकियो का आराम चाहता है। किन्तु ये सब अशुद्ध प्रणिधान की आदते शरीर कष्ट के बिना छूटती नहीं है। सिर पर से केशो का लोच करते समय मन को बड़ा अटपटा लगता है, लेकिन आत्मा को निखारने की जिज्ञासा वाला साधक उस क्रिया मे शुद्ध प्रणिधान का रूप देखता है। शरीर कष्ट की मूल प्रेरणा यह है कि

सर्व-त्याग की साधना

शरीर पर से ममत्व घटता जाय, क्योंकि शरीर पर से जितना ममत्व घटता है, जीवन मे उतना ही समत्व आता है तथा आत्मा का स्वरूप उतना ही निर्मल बनता है। शरीर का ममत्व छूटे बिना आत्मा की शक्ति प्रकट नहीं होती है। आत्मा की शक्ति आत्मा को छोड़ कर जब शरीर के साथ चिपकी रहती है तो वह शरीर की कैद मे रहती है। शरीर के प्रति ममत्व को त्यागने पर ही वह स्वतन्त्र बनती है।

आत्म-शक्ति की स्वतन्त्रता

जब तक शरीर पर मोह बना हुआ है, आत्मा की शक्ति उस मोह रक्षा में लग कर अपने आप को निस्तेज बनाये रखती है क्योंकि वह शरीर मोह की दासता मे रहती है। जैसे एक व्यक्ति के हाथ में रत्न हो, वह उसे अपनी मुट्ठी में बन्द करके कहे कि रत्न तो मेरे अधिकार में है किन्तु क्या उसकी मुट्ठी उस रत्न के अधिकार में नहीं होती ? क्या वह अपनी मुट्ठी को उस अवस्था में जब चाहे, खोल और बन्द कर सकता है? उसने रत्न को नहीं पकड़ा है, बल्कि रत्न के साथ वह पकड़ा गया है और उसने मुट्ठी बन्द कर रखी है। उसका हाथ स्वतन्त्र नहीं है। जब तक रत्न को मुट्ठी में पकड़ रखा है, तब तक उसका वह हाथ न खाने का काम कर सकेगा, न पीने का। वह शरीर के अन्य अवयवों को न सवार सकेगा और न शुचि क्रिया ही कर सकेगा। यह क्यों है ? हाथ की शक्ति को उस ओर लगा रखी है तो वह परतन्त्र बन गई है। उस रत्न पर जब तक आसक्ति रहेगी, हाथ को स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी। रत्न को छोड़ देंगे, तभी हाथ को सर्वथा स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकेगी। फिर ही हाथ को जिस किसी कार्य में लगाना ह, उसे लगाया जा सकेगा।

जैसे इस वाह्य हाथ का रूपक है, वैसे ही आत्मा की आन्तरिक शक्तियों का रूपक है। आत्मा की आन्तरिक शक्तियों ने इस शरीर पिड के जर्रे-जर्रे को पकड़ रखा है और यह समझ रखा है कि यह शरीर मेरा है। शरीर के मोह में वे सलग्न बनी हुई हैं। जैसे शरीर से वढकर उनका अपना कुछ भी नहीं है। ये शक्तिया एक प्रकार से शरीर के ममत्व में मूर्छित बनी हुई हें। इस मूर्च्छा को हटाना ही शुद्ध प्रणिधान को लाने का मार्ग प्रशस्त करना है। काया क्लेश तप की दृष्टि से इस मूर्च्छा को हटाने के लिये यह विधान किया गया है कि छ माह तक वह सर्दी गर्मी की ऋतुओं के परिषह सहन करे तथा कटीली पथरीली भूमि पर चले और उन कन्टक पैरों से खून की धाराए भी निकलें तब भी उसका यही अनुसन्धान चलना चाहिये कि वह काया क्लेश तप का आराधन कर रहा है। शरीर मोह के साथ जुड़ी हुई मूर्छित आत्मा की शक्तियों को जागृत वनाने की यह भव्य साधना होती है।

आत्म-शक्ति की स्वतन्त्रता का यह काया क्लेश तप अनुपम साधन है। साधक यह विचार करे कि मैं इस शरीर को कष्ट दे रहा हू, वह आत्मा को आनन्द देने वाला है। सर्दी और गर्मी के [illegible] केश लुचन की पीड़ा से शरीर का मोह छूटेगा और शरीर का मोह जब छूट जायगा, तभी आत्म-स्वरूप के सत्य-दर्शन हो सकेंगे। शरीर-मोह छूटने से

आत्मा की शक्तिया उस परतन्त्रता से मुक्त बनेगी ओर स्वतन्त्र होकर आत्म-विकास के मार्ग पर कार्य रत होंगी। तब मन और इन्द्रिया प्रणिधान की अशुद्धता से निकल कर शुद्धता की दिशा मे गति करेगे। जब तक बाह्य शरीर के रूप पर ममता वनी रहती हे तो सारी शक्तिया भी उसके बाह्य रूप को ही सजाने सवारने और विकारो मे ले जाने का कार्य करती हैं, उस समय आत्म-स्वरूप का भान नहीं रहता है। एक दिशा से हटा कर ही किसी को दूसरी दिशा मे ले जा सकते हैं। इस प्रकार आत्मिक शक्तियो को शरीर मोह की दिशा मे से हटावेगे, तभी उन्हे आत्म-शुद्धि की दिशा मे मोड़ सकेगे। यही दृष्टि बिन्दु है कि काया क्लेश के तपाराधन से आत्मा की समस्त शक्तियो को शरीर मोह से स्वतन्त्र बनाई जा सके और उन्हे आत्म-शुद्धि एव शुद्ध प्रणिधान की उपलब्धि हेतु नियोजित किया जा सके। आत्मिक शक्तिया जब उन्मुक्त होकर स्वहित एव लोकहित के कार्यो मे नियोजित होती है तो उसके परिणाम निश्चय ही आश्चर्यजनक होते हैं क्योकि आत्मबल के समक्ष शरीर बल की कोई तुलना ही नहीं होती है।

शरीर-कष्ट परीक्षा के तुल्य

आत्म-शुद्धि के लक्ष्य से काया क्लेश तप के जरिये शरीर के जिन कष्टों को सहन करने का निर्देश है, उन्हें परीक्षा के तुल्य माना जाना चाहिये। कष्ट सहन के समय कितनी शान्ति और समभावना रहती है-यही मापदण्ड होता है कि कोई काया क्लेश के तप मे कितनी उत्कृष्ट स्थिति तक पहुचा है। इस कारण ये शरीर कष्ट एक प्रकार से परीक्षा के तुल्य हैं जो व्यक्ति के विकास के परिचायक होते है। सभी जानते हैं कि परीक्षा के क्षण तीक्ष्ण होते है। विद्यालय मे छात्रो की परीक्षा के दिन आते है तो वे किस मेहनत और लगन से अध्ययन करने लगते हैं? ऐसी ही एकाग्रता प्रत्येक परीक्षा मे आ जाती है और वस्तुत आनी चाहिये क्योकि उसके बिना परीक्षा मे सफलता सम्भव नहीं होती है। शरीर कष्ट जब स्वेच्छा से अपनाये जाते है और उस तप मे जितनी स्थिरता और शान्ति आती है, उससे विदित होता है कि कोई उस परीक्षा मे किस स्तर तक उत्तीर्ण हुआ है। यह एक प्रकार के आध्यात्मिक परीक्षा का प्रसग होता है।

शरीर सम्बन्धी कष्ट स्वत ही आवे-तब भी सहनशीलता और समभावना होनी चाहिये किन्तु जब काया क्लेश को तप के रूप मे लेकर स्वेच्छा से शरीर-कष्टों को अपनाया जाता है, तब तो इस समभावना का उचतम विकास होना चाहिये। साधु जीवन मे चौबीसो घण्टे सम-भावना के साथ साधना में चला जाता है। साधु विहार करते है तब भी तप होता है और वे एक स्थान पर ठहर कर जब भयकर शीत और ताप को अत्यल्प साधनो के साथ सहन करते है, तब भी तप ही होता है। जितनी-जिनती साघु की कठोर क्रियाए है, उनसे देखने वाले को भले ही प्रतीत होता है कि वे बहुत ही अधिक शरीर कष्ट को सहन करते हैं किन्तु साधु उन्हें कष्ट के रूप मे अनुभव नहीं करते तथा ज्ञान एव समभावपूर्वक उनकी तप

के रूप मे आनन्द के साथ आराधना करते हैं। इस धारणा के साथ यदि साधु जीवन चलता है तो उससे कर्मों की निर्जरा होती है तथा प्रणिधान की शुद्धता निखरती है। यह तप परीक्षा की तरह साधक को सफल या असफल घोषित करता है।

काया क्लेश का तप मुख्य रूप से साधु-जीवन में अपनाया जाता है, किन्तु गृहस्थों को भी गौण रूप से तो इस तप को अपने जीवन मे स्थान देना ही चाहिये। गृहस्थ के लिये यह तप स्वस्थ शरीर श्रम के रूप में भी किया जा सकता है। कभी-कभी काया क्लेश कहीं-कहीं सीमा बाहर भी हो जाता है।

एक मजदूर-मजदूरी करने को जाता हे, उसके पैरो में जूते नहीं होते और जेठ-वैशाख की गर्मी की तपन से उसका शरीर तक काला हो जाता है। वह कुदाली से जमीन खोदता है-चोटी का पसीना एड़ी तक पहुचता है। सोचिये कि उसके शरीर को कितना कष्ट हो रहा है, किन्तु शरीर कष्ट का उद्देश्य क्या है-यह देखना भी आवश्यक होता है। उसका मूल उद्देश्य उदर पूर्ति का होता है- इस कारण भारी काया क्लेश होते हुए भी वह तप की श्रेणी मे नहीं आता हे। काया क्लेश तप के लिये शरीर कष्ट आत्मार्थी होना चाहिये।

वही मजदूर यदि सम्यक् ज्ञानी है तथा उदरपूर्ति से ऊपर श्रद्धा के साथ आत्म-शुद्धि के लक्ष्य को अपनाता है तथा उस लक्ष्य से शरीर कष्ट देखता है तो वह तप की कोटि मे आ जायगा। हा, उसके शरीर कष्ट में तप का भाग उतना ही होगा, जितना वह आत्म-शुद्धि के प्रयास से सम्बन्धित होगा। यदि लक्ष्य भौतिक है और शरीर कष्ट उस लक्ष्य की पूर्ति के लिये हे तो वह काया क्लेश का तप नहीं है।

काया क्लेश आत्माभिमुखी हो

इस दृष्टि से काया क्लेश तप की कसौटी यह होगी कि वह शरीर-कष्ट आत्माभिमुखी होना चाहिये। सोचिये कि कोई जेल में जाता है, वहा उसे नाना प्रकार की यत्रणाए मिलती हैं-चाबुक भी लगते हैं और कभी-कभी बिजली का करेन्ट तक दिया जाता है तो उसमें उसे कितना कठोर शरीर कष्ट सहना पड़ता है? कई बार ऐसा शरीर कष्ट साधु के केश लुचन के कष्ट से भी कठोरतर हो जाता है, किन्तु उस शरीर कष्ट का मूल्याकन उसकी अन्त करण की भावना एव उसके ज्ञान व विवेक के आधार पर ही किया जा सकता है। वैसे तो एक कैदी ऐसा सारा कष्ट-सहन अज्ञानपूर्वक करता है, अत वह निरर्थक होता है। किन्तु यदि वह ज्ञानपूर्वक सही धरातल पर खड़ा हो तथा आत्माभिमुखी बन कर उन कष्टों को समभाव से सहन करे तो उनका मूल्य भी तप के तुल्य होने लगता है।

बाहर से भोगा जाने वाला शरीर कष्ट सार्थक तब बनता हे जब उसका सूत्र आन्तरिकता से जुड़ा हुआ हो और वह सूत्र आत्माभिमुखी हो।

एक व्यापारी दुकान पर बैठ कर तप भी कर रहा हो, तब भी वह यही सोचता है कि दुकान पर तप कैसे हो सकता है? परन्तु यदि उसमें विवेक हो तो वह दुकान पर बैठ कर तथा

व्यापार करता हुआ भी काया क्लेश का तप कर सकता है या उसका कुछ भाग ला सकता है। सोचने की बात है कि यह कैसे हो सकता है? व्यापार करते हुए भी यदि उसकी अन्तर्भावना यह रहे कि व्यापार ही उसके लिये सब कुछ नहीं है। निर्वाह के लिये यह साधन है किन्तु आत्म-शुद्धि का लक्ष्य सर्वोपरि है तथा उसके लिये व्यापार में किसी भी प्रकार की अनैतिकता नहीं की जानी चाहिये। ऐसी भावना के साथ एक ओर उसका व्यापार नैतिक बनेगा तो मूल मे आत्म-शुद्धि का कार्य भी सफल होगा। तो उसके श्रम एव शरीर कष्ट मे जो आत्म शुद्धि का भाग है, वह काया क्लेश का तप ही कहलावेगा। आवश्यक यह है कि व्यापार मे भी उसकी समदृष्टि बने। व्यवहार व मूल्य मे बड़े व छोटे के साथ वह समानता रखे। शुभ भावना के साथ वह समता और ईमानदारी के गुणो को जो अपनाता है तो वह आत्माभिमुखी तप बन जाता है।

न्यूनाधिक रूप से शरीर कष्ट तो सभी सहते हे किन्तु उसकी सार्थकता तभी स्पष्ट होती है जब उसका स्वरूप और लक्ष्य प्रधान दृष्टिकोण से आत्मार्थी हो। बाहर का कार्य गौण होता है-मुख्य होती है अन्तर्भावना कि वह किस धारा मे बह रही है-शुद्ध अथवा अशुद्ध, शरीर मोह से मुक्त अथवा शरीर मोह मे ग्रस्त?

एक गृहस्थ भी अपनी भावना को ज्ञान एव विवेक मे ढाल कर अपने शरीर कष्ट को तप की श्रणी मे पहुचा सकता है। वह जो भी काम करता है, उसे भले करे किन्तु तीक्ष्ण रूप से उसका लक्ष्य सदा आत्मशुद्धि के प्रति रहना चाहिये। जब यह लक्ष्य होगा तथा शुद्ध प्रणिधान रहेगा तो वैसा शरीर कष्ट आत्माभिमुखी होगा तथा काया क्लेश तप-रूप होगा।

गृहस्थ जीवन मे काया क्लेश तप

ज्ञान और विवेक की दृष्टि रहे तो गृहस्थ जीवन मे भी पग-पग पर सहे जाने वाले शरीर कष्ट को सात्विकता एव समतापूर्वक काया क्लेश तप का रूप दिया जा सकता है। अधिकाश लोग इस वास्तविक तथ्य को नहीं समझ पाने के कारण शरीर के कष्ट भी सहते रहते है किन्तु उनके माध्यम से आत्मिक शान्ति का शोधन नहीं कर पाते है। यदि दृष्टिकोण मे समुचित सशोधन कर दिया जाय तो शरीर के कार्य परिवर्तित होकर कष्ट सहन की एक नई ही अनुभूति देने लगेगे और वे काया क्लेश तप की स्थिति मे आ जायेगे। ऐसी दृष्टि कभी आती है तभी तो आप श्रावको मे पौषध व्रत लेने की रुचि जागती है। पौषध मे दरियो पर सोना पड़ता है, प्रतिलेखन करना पड़ता है और मच्छरो आदि के कष्ट सहने पड़ते है, किन्तु आप उन्हे धर्म क्रिया के नाम पर सहन कर जाते है। इसके विपरीत ससार के कार्य करते हुए आप लोगो मे यदि यह विचार बनता हो कि वहा तो सभी तरह के पाप करने पड़ते हैं तो यह विचार उचित नहीं है। धर्म-क्रियाए ही धर्म की वाहक नहीं होती, बल्कि जीवन की प्रत्येक क्रिया धर्म क्रिया के अनुरूप ही पवित्र होनी चाहिये। जीवन की क्रियाओ मे भी कष्ट सहिष्णुता आनी चाहिये और समत्व की भावना बननी चाहिये। इसके लिये ज्ञान दृष्टि बनानी

होगी और विवेक के साथ चलना पड़ेगा।

धर्म जीवन का एक अग नहीं, सर्वांग बनना चाहिये। धर्म-क्रिया अथवा धर्म-स्थान मे धर्म का ध्यान रखें तथा बाकी ससार कार्यो मे धर्म को कोई महत्व न दें तो इससे बढ कर धर्म का उपहास दूसरा नहीं हो सकता है। आप यह क्यो नहीं सोचते कि धर्म-स्थान मे मैं हू तो वहा भी शुद्धता से धर्म-क्रिया करू किन्तु जब गृहस्थ के कार्यो में लगू तब वहा भी विवेक तथा आत्माभिमुखी वृत्ति रखू। वह भी धर्म का ही कार्य होगा। अगर प्रत्येक कार्य में गृहस्थ विवेक रखता है तो सारी काया क्लेश की क्रियाए उतने अशो में उधर मुड़ कर धर्म का रूप ही धारण करेगी।

दृष्टि के साथ सृष्टि बदलती है

लोग कहते हें कि हमसे उपवास नहीं हो सकता है-दूसरा तप भी नहीं होता है तो मैं उनसे कहता हू कि आपसे यह सब नहीं होता तो उसे मत करिये, किन्तु जो कर सकते हैं, उसे भी करने में पीछे क्यों रहते हैं? आप अपने घरेलू कार्यो की पद्धति में तो परिवर्तन ला सकते हैं तो विवेक के साथ उस हेतु अपनी दृष्टि को बदल दीजिये और फिर देखिये कि दृष्टि के बदलने के साथ सृष्टि कैसी बदल जाती है? फिर उसी शरीर कष्ट के सहने मे काया क्लेश तप का अश आने लगेगा। दृष्टि की सृष्टि बदली तो समझिये कि समग्र जीवन का क्रम ही बदलने लगेगा और जीवन की सारी प्रक्रियाए आत्म-शुद्धि के लक्ष्य मे केन्द्रित होकर व्यवस्थित रूप से चलने लगेगी। उन प्रक्रियाओ मे कष्ट तो होगा परन्तु सहने जैसा अनुभव नहीं होगा। उस कष्ट में आत्मा के मजने की झलक दिखाई देगी और जब ऐसी अनुभूति होने लगेगी तो यह निश्चित मानिये कि वहा काया क्लेश का तप सार्थक बन गया है।

जीवन क्रम में परिवर्तन लावे

साधु जीवन में तो काया क्लेश तप की सर्वत्र आराधना करनी ही पड़ती है किन्तु उस आराधना में भी अधिक से अधिक वास्तविकता आनी चाहिये तथा शरीर कष्ट को आत्म-शुद्धि एव आत्म-जागृति का एक सबल माध्यम मानकर चलना चाहिये। किन्तु यदि गृहस्थ अपने जीवन क्रम मे परिवर्तन लावें तथा इस तप की महत्ता को ग्रहण करे तो ससार के वायुमण्डल में फैली विषमता की जड़ों को नष्ट कर सकते हैं। जब शरीर श्रम स्वय के स्वार्थ के लिये नहीं, सामूहिक हित एव कल्याण के लिये लगेगा तो उसका रूप निश्चित ही नैतिक और पवित्र होगा। वैसा शरीर श्रम ही शरीर कष्ट होता है, जो कष्ट का अनुभव नहीं देता, वल्कि शरीर के ममत्व को दूर करता हुआ आत्म-शुद्धि के लक्ष्य की ओर आगे वढाता हे एव साथ में सारे समाज में भी नैतिक पवित्रता लाता है। यदि ज्ञानपूर्वक जीवन कम में ऐसा परिवर्तन लावे तो वह काया क्लेश तप की आराधना ही होगी।

गगाशहर-भीनासर
दि० २६-११-७३

14

प्रतिसंलीनता तप की आराधना

* अभ्यास करने से असभव भी सभव बन जाता है ।
* आत्म की जागृति छोटे-छोटे व्रत और तपों के आराधन से ही सम्भव है ।
* मन और पाचों इन्द्रियों की विपथ-गामिता को रोकने का प्रयास ही प्रतिसलीनता का तप है ।
* सप्त कुव्यसनो का त्याग प्रति सलीनता तप की प्रथम सीढी है ।
* आवश्यक खाद्य एव पेय पदार्थ को तटस्थ भाव से ग्रहण करना ही प्रतिसलीनता तप का आदर्श है ।
* स्व आचार्य श्री गणेशीलालजी म सा अपने व्याख्यानों में फरमाया करते थे कि जो सादे और शुद्ध खादी के वस्त्र धारण करता है, वह केवल प्रतिसलीनता का तप ही नहीं करता, बल्कि दान, शील, तप और भावना की शक्ति को भी अभिवृद्ध बनाता है।

शान्ति जिन एक मुझ विनती

शान्ति स्वरूप की प्राप्ति विषयक अनुसन्धान मे जिस महत्वपूर्ण प्रश्न का प्रसग चल रहा है, उसी महत्वपूर्ण तत्त्व को अन्त करण की शक्ति से यदि सवार लिया गया-उसको पवित्र वना लिया गया तो जीवन का सम्पूर्ण सार इस आत्मा को उपलब्ध हो जायगा। यही सार शुद्ध प्रणिधान है, जिसे प्राप्त करने के लिये शास्त्रकारो ने कई प्रकार के विधि-विधान निर्धारित किये हैं। इन सब विधि-विधानो का लक्ष्य यह है कि जीवन की सारी वृत्तिया और प्रवृत्तिया अन्यान्य स्थानो से हट कर आत्म-शुद्धि में केन्द्रस्थ बनें और आत्मिक शक्ति बलवती होकर तेजस्वी स्वरूप धारण कर ले।

आत्मा जितनी बलवान बनेगी, उतनी ही वह शुद्ध प्रणिधान की स्थिति को अपने नियमित नियन्त्रण में रख सकेगी। विधि-विधानों के पालन से आत्मा का बल बढता है और सही बल जव अति सुदृढ हो जाता है तो वह किसी भी बाहरी आघात या सघर्ष से टूटता नहीं, बल्कि उन आघातों और सघर्षो को ही समाप्त करके अधिकाधिक देदीप्यमान बनता जाता है। इसी वलवृद्धि के आधार पर आत्मा अपने मूल स्वरूप में स्थिरीभूत रह सकती है। जव तक आन्तरिक शक्ति प्रकट नही होती है बाहरी दृश्यो से प्रभावित होकर आत्मा डगमगाती रहती है। ये भौतिक प्रलोभन आत्मा को पग-पग पर चल-विचल बनाते हुए अपने मूल स्थान से नीचे की ओर घसीटते रहते हैं।

भौतिक पदार्थ स्वय चेतन नहीं होते, जो आत्मा को चचल बनावें । वे तो जड़ होते हें और यह नहीं जानते कि वे अपने आप किसी को चचल वना रहे हों। पदार्थ तो अपने स्वभाव मे रहते हैं, परन्तु उन पदार्थो में आत्मा को चचल बनाने की जो शक्ति आती हे, वह भी आत्मा ही के सम्पर्क से आती है। जहा शास्त्रीय दृष्टि से कर्म वर्गणाओ का वर्णन आया हे, वहा स्पष्ट किया गया हे कि कर्म वर्गणा के पुद्‌गल ऐसे परमाणु स्कन्ध होते हें जो निर्जीव होते हैं। उनमे यह समझ नहीं कि किनको सुख देना और किनको दु ख देना, किन्तु आत्मा की क्रिया से जव यह परमाणु समूह घनीभूत होकर आत्म-प्रदेशो के साथ सलग्न होता हे तो इनमें एक विशिष्ट प्रकार की शक्ति आ जाती हे जो आत्मा के साथ सम्पर्क होने से ही पेदा होती हे। आत्मा के साथ लगे वे कर्म वर्गणा के पुद्‌गल जव कर्म समूह में ददल जाते हें तो परिणामों के अनुसार तीव्रता या मन्दता से दन्धते हैं और फल देते हें। उस कर्म-दन्धन म जो रस की स्थिति पदा होती ह, वही भी आत्मा के ही सयोग से होती हैं। तो मूल म चेतन्य शक्ति का ही सचार हाता है जिसके द्वारा सारे कार्य-कलाप चलते हें।

चैतन्य शक्ति और कर्म-बन्धन

कर्म परमाणुओ में जो रस का सगठन होता है, वह इसी चैतन्य आत्मा की शक्ति है, क्योकि उसी के सहारे रहते हुए जब ये कर्म परमाणु अपनी इन्द्रियो का आकार पैदा करते है तो वे दूसरे परमाणुओ को और दूसरी आत्माओ के साथ रहने वाले कर्म स्कन्धो को भी प्रभावित करते है। इसीलिये एक आत्मा दूसरी आत्मा को इन कर्म स्कर्न्धो से प्रभावित करती है। इन कर्म स्कन्धो मे जिस-जिस प्रकार के बन्ध का रस होता है, वैसा-वैसा बन्ध अन्य आत्माओ मे रहने वाली शक्ति का भी निमित्त बनता है। किन्तु जिन आत्माओ के साथ वे कर्म परमाणु लगे हुए है, उन आत्माओ की सुशुप्त-दशा होती है। आत्मा सोई हुई है-इसका तात्पर्य यह होता है कि वह बाहरी पदार्थों या कि विषय-कषाय की वासनाओ मे मूर्छित होकर अपने सही और मूल स्वरूप को नहीं समझती है। वह आत्मा स्वय से विस्मृत होती है-अपने आपको भूल जाती है। वह आत्मा इस प्रकार अन्य के प्रभाव से प्रभावित बन कर अशुभ कार्यो मे लगती है तथा अपनी व अपने शरीर की शक्ति को अशुद्ध प्रणिधान मे नष्ट करती है। ऐसी आत्म-विस्मृत दशा चतुर्गति मे परिभ्रमण कराती रहती है।

इस परिभ्रमण के चक्र मे भटकते हुए जिस आत्मा मे अपने मूल स्वभाव के प्रति जागृति उत्पन्न होती है तो वह अपने साथ सलग्न कर्म-स्कन्धो का क्षयोपशम करती है। कर्म क्षय होते जाने की अवस्था मे वह जागृति अधिक से अधिक प्रखर होती जाती है और वैसी जागृति अन्य आत्माओ को भी जागृत बनाने मे प्रभावित करती है। सची जागृति उसे ही कहेगे कि उसके वाद इन्द्रियो के विषय आत्मा को प्रलुब्ध और अपने स्वरूप से विचलित नहीं बना सकते हे। इस जागृति से आत्मा को ऐसा सम्बल मिल जाता है कि वह अपनी सही स्थिति मे सुदृढ हो जाती हे। वेसी स्थिति मे वह अपने पास मे रहने वाले और प्रभावित होने वाले कर्म वर्गणा को तटस्थ दृष्टि से देखने लग जाती हे। तब वे कर्म वर्गणा के पुद्गल उस जागृत आत्मा को प्रभावित नहीं कर पाते है, तव इस आत्मा की स्थिति तटस्थ दृष्टा की सी हो जाती हे।

यह चेतन्य शक्ति ही आत्म-विस्मृत बन कर स्वय ही कर्म-बन्धन का कारण बनती है तो सही अपनी जागृति से उन्हीं कर्म-वन्धनो को टूक-टूक कर देती हे। एक दिन अपनी परम तेजस्विता से कर्म-वन्धनों से सम्पूर्णत मुक्ति प्राप्त कर लेती है।

वैज्ञानिक का सा निरीक्षण व परीक्षण

जागृत आत्मा एक वेज्ञानिक की तरह निरीक्षण एव परीक्षण की प्रक्रियाओ मे तटस्थ दृष्टा वन जाती हे। विज्ञान के किसी नये आविष्कार करने की जिज्ञासा रखने वाला वेज्ञानिक पहले प्रयोग करता हे-एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ म मिलाता हे और निरीक्षण करता हे कि उस मिश्रण का दोना पदार्थों पर केसा प्रभाव पड़ा? वह फिर परीक्षण का परिणाम निकालता हे कि अमुक मात्रा म मिश्रण करने से अमुक प्रकार का प्रभाव होता हे। इस परिणाम के आधार पर

ही वैज्ञानिक पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता का अध्ययन करता है और उससे नये आविष्कारो की खोज करता है। यह ध्यान रखने की बात है कि पदार्थों की पारस्परिक प्रभावशीलता में वह वैज्ञानिक अपना भान नहीं भूलता है-स्वय तटस्थ दृष्टा रह कर पदार्थों के विभिन्न मिश्रणो के परिणामों को तोलता है।

वैज्ञानिक जब एक रासायनिक पदार्थ मे उससे विपरीत स्वभावी विष या रसायन को मिलाता है तो उसमें उबलने, जलने या नष्ट होने की स्थिति भी सामने आती है। वैज्ञानिक इस दृश्य को शान्त एव तटस्थ भाव से देखता है, किन्तु उस उबाल या जलन में स्वय नष्ट नहीं हो जाता। वह तो उस निरीक्षण एव परीक्षण से अपने बचाव का ही उपाय खोजता है। वैज्ञानिक की सी निरीक्षण एव परीक्षण की वृत्ति यदि जागृत आत्मा भी ग्रहण कर ले तो वैसी जागृत आत्मा पाप के कीचड़ में खड़ी होकर भी कमल के समान उससे अप्रभावित रह सकेगी। वह आत्मा भौतिक जगत् मे होने वाले परमाणु समूह के रासायनिक परिवर्तनों का ज्ञान एव उसकी प्रक्रिया को जब आध्यात्मिक जगत् मे सक्रिय बनाती है तो उससे वह कार्मण वर्गणा के कर्म स्कन्धो को वैज्ञानिक की विधि मे देख सकती है। वैसी आत्मा यह जान सकती है कि अमुक आत्मा के साथ सलग्न कर्म-परमाणुओ का प्रभाव उस आत्मा पर किस रूप मे हुआ और उसमे क्या परिवर्तन किस प्रकार लाये जा सकते हैं? परमाणु स्कन्धो के सघर्ष को भी वह वैज्ञानिक की तरह तटस्थ भाव से देखती है।

इस जागृति एव तटस्थ वृत्ति का परिणाम यह होगा कि वह आत्मा शक्तिशाली होकर पराये पदार्थों के प्रवाह मे डूबेगी नहीं अथवा कि वह विषय-कषायों के अन्धड़ से विचलित नहीं होगी। ऐसी अविचलित अवस्था आत्मा मे पूर्णता का सचार करती है जिस दिशा में अग्रसर बनती हुई आत्मा इस सृष्टि के सूक्ष्मतम एव गहनतम रहस्यों की शोध में विशिष्ट प्रगति सम्पादित कर सकती है।

जड की शक्ति चैतन्य के बल से ही

जैसा कि मैं बता चुका हू और आपके समक्ष इस स्थिति को रखता रहा हू कि जड़ तत्त्व की जो शक्ति इस ससार में दिखाई देती है उसका मूलाधार चैतन्य बल ही होता है। आप देखेंगे कि परमाणु चाहे सीधा-सादा हो, किन्तु चैतन्य का उस तरह का प्रयत्न होगा तो वह सीधा सादा परमाणु भी तीक्ष्ण रूप धारण कर सकता है। दूध अमृत के तुल्य होता है लेकिन उसी दूध मे कोई चेतनाशील व्यक्ति ही जब जहर के परमाणुओं का मिश्रण कर देता है तो वह अमृत तुल्य दूध भी विष तुल्य बन जाता है। यह प्रक्रिया इरादे से भी बनाई जा सकती है और स्वत भी हो सकती है। जब स्वत होती है तो किसी की गफलत से होती है।

आज विनाशकारी भयकर अणु परमाणुओ के शस्त्रास्त्रों का आविष्कार हो रहा है। इसमें वैज्ञानिक क्या करते हैं? अपनी चैतन्य शक्ति से धातुओं और रसायनों का अमुक मिश्रण कर के वे विस्फोटक पदार्थ तैयार करते हैं। वे पदार्थ स्वय के परमाणु इतने भयकर होते हैं

किन्तु क्या वे भयकर स्वत ही हो जाते हे ? इसी परमाणु शक्ति का निर्माण के रूप मे उपयोग किया जाय तो इसके द्वारा होने वाले विद्युत् उत्पादन से कई कारखाने चल सकते हैं। किन्तु निर्माणकारी परमाणु शक्ति को विनाशकारी बनाने वाली यह कोनसी शक्ति हे ? क्या यह जड़ शक्ति है? यह शक्ति चैतन्य शक्ति ही होती है जो अपनी भावनाओ के अनुसार जड़ शक्ति का स्वरूप-परिवर्तन करती रहती है और उस-उस स्वरूप मे फिर वह जड़ शक्ति चेतन शक्ति को भी प्रभावित करती है।

यह चैतन्य शक्ति जिस प्रकार बाह्य जगत् मे निर्माण और विनाश के कार्य करती हे, उसी प्रकार यही शक्ति आन्तरिक जगत् मे भी सहार और निर्माण की परिस्थितिया वनाती है। यह आन्तरिक प्रक्रिया अधिकाश व्यक्तियो को इसलिये ज्ञात नहीं होती कि उनकी आत्माए सुशुप्त अवस्था मे रहती हैं जिससे उन्हे उस आन्तरिक प्रक्रिया को देखने और समझने की सज्ञा ही नहीं होती है। सुशुप्त अवस्था उसे कहते हैं कि इन्द्रिया वाहर ही बाहर भटक रही है, मन बाहर ही बाहर दौड़ रहा है, किन्तु वे भीतर नहीं झाकते, अपने स्वामी को नहीं पहिचानते और स्वामी भी उन्हे अपने अधीन नहीं रखता। यह आत्म विस्मृति ही आत्मा की सुशुप्त अवस्था होती है। इस अवस्था मे न तो आत्मा अपने स्वरूप को देखती है और न ही अपनी शक्तियो को पहिचानती है। जब अपनी शक्तियो को पहिचानती भी नहीं तो उनके सदुपयोग का तो प्रश्न ही नहीं उठता। उस अनबूझ अवस्था मे अन्दर की हलचल का जब असर पड़ता है तब आत्मा मे हैरानी पैदा होती है। सारी स्थिति तब स्वप्नवत् दिखाई देती है। चैतन्य शक्ति के इस प्रकार सोये रहने की दशा बड़ी विचित्र होती है, क्योकि वैसी दशा मे वह जड़ को प्रभावित करे, उसकी बजाय वह जड़ से प्रभावित होती रहती है। यह सुशुप्तता है। जागृत अवस्था यह होती है कि आत्मा अपने बल को समझ जावे और अपनी शक्ति का सत्प्रयोग करे। तब यह सत्य स्पष्ट हो जायगा कि जड़ की जितनी विस्तृत शक्ति इस सृष्टि मे दिखाई देती है, उसका मूलाधार चैतन्य-बल ही होता है।

आवश्यकता है आत्म जागृति की

इस सत्य के स्पष्टीकरण के लिये वास्तव मे आत्म जागृति की आवश्यकता होती है। सृष्टि के बीच मे ये बाह्य और आन्तरिक दृश्य जो बनते और बिगड़ते है, उनमे चैतन्य शक्ति का प्रमुख हाथ होता है, लेकिन इस सत्य को जागृत आत्मा ही जान सकती है और इन परिवर्तनों पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकती है। परन्तु सुशुप्त आत्मा की जो गति होती है, वह निराशाजनक होती है। जैसे किसी आदमी को बेहोशी का कुछ ऐसा इन्जेक्शन दे दे कि वह चल फिर और देख तो सके लेकिन पहिचान किसी को न सके। जैसी उस व्यक्ति की दशा हो जाय, वैसी ही दशा सुशुप्त आत्मा की हो जाती है। सुशुप्त अवस्था मे आत्मा की गतिविधि कुछ की कुछ होती है और ऐसी विधियो से आत्मा अपनी शक्तियो को अधिकाधिक दुर्बल बनाती रहती है। आत्मा की शक्ति तो बहुत है, मगर जब बेभानी की हालत हो तो वह

शक्ति अप्रकट ही रहती है। उस शक्तिहीन अवस्था में आत्मा निस्तेज और अकर्मण्य बनती जाती है। वह अपने पराक्रम को ऐसी हीनता क वशीभूत होकर जगा नहीं पाती है। इस कारण मूल आवश्यकता यह है कि आत्मा जागृत बने, अपनी महती शक्तियों को पहिचाने और उनके उपयोग से आत्मशुद्धि तथा शुद्ध प्रणिधान की प्राप्ति करे।

ज्ञानी पुरुषों ने आत्म-जागृति के उपायों के बारे में गहराई से विचार किया कि अगर बड़ी-बड़ी बातें ही बतादी जाय तो नीचे स्तर से आत्म उन्ह आचरण में नहीं ला सकेगी, इस कारण छोटी-छोटी बातों का उल्लेख किया और उनके आचरण की विधि बताई कि जिससे निम्न स्तर से आत्मा उन पर चलती हुई उच्च श्रेणी तक पहुच सके। जैसे एक बच्चे को मण भर वजन उठाने को कहे तो वह नहीं उठा सकेगा। किन्तु उसी बच्चे को यह विज्ञान दिया जाय कि तुम आज नहीं तो कल मण भर वजन उठाने की क्षमता प्राप्त कर सकते हो और वह उस अभ्यास मे लग जाय तो अभ्यास पूरा होने पर वह उतना वजन उठा सकता है। आप इसे आश्चर्य से सुनेंगे कि एक मनुष्य हाथी को उठा सकता है, किन्तु सच मानिये कि यह सही हो सकता है। जन्म लेते हो हाथी के बच्चे को एक बलिष्ठ पुरुष आसानी से उठा सकता है-फिर वह उसे रोज उठाने का अभ्यास करता जाय वर्षो तक तो क्या वह हाथी को नहीं उठा लेगा? जिसे आज उठाया है, उसे कल उठाने में न तो दिक्कत होगी और न भार लगेगा। अभ्यास से असम्भव भी सम्भव बन जाता है। किन्तु अभ्यास सफलता की चोटी पर तभी पहुच सकता है जब आत्मा जागृत हो, बल्कि स्वय आत्म-जागृति छोटे-छोटे व्रत और तपों के आराधन के अभ्यास से प्राप्त की जा सकती है। इसी सन्दर्भ मे भगवान् महावीर ने तपाराधन का उल्लेख किया है। तप का साधन ऐसा है, जिसे छोटे से छोटे प्रकार से प्रारम्भ किया जा सकता है और बड़े से बड़े प्रकार तक पहुच जा सकता है। तप अभ्यास के क्रम में ढल कर आत्मा को उसकी सर्वोच्च जागृति तक ले जा सकता है।

प्रतिसलीनता का तप

बारह प्रकार के तपो मे छठे क्रम पर आता है प्रतिसलीनता का तप । प्रतिसलीनता का तात्पर्य है कि आत्मा अपने आपको थोड़ा गोपन करे - सिकोड़े और अपनी ताकत को दबाये। कभी आपने देखा होगा कि बिल्ली जब ऊची दीवार पर कूदना चाहती है तो पहले वह अपने आपको सिकोड़ती है, फिर पीछे हट कर जोर लगाती है, तब दीवार पर चढ जाती है। यह जो पीछे हटना है-नई छलाग लगाने के लिये अपने आपको सिकोड़ना है, यही प्रतिसलीनता है। इसके लिये पहले अपनी शक्ति का गोपन करना पड़ता है ताकि अपनी शक्ति म तल्लीनता आवे-एकाग्रता पैदा हो। तब उस शक्ति का उपयोग किया जाय ताकि सफलता मिले ही। प्रतिसलीनता का तप आत्म-शक्ति की जागृति के लिए ऐसी ही प्रक्रिया की प्रेरणा देता है।

तप की दृष्टि से प्रतिसलीनता की स्थिति मे आत्म-शक्तियो की तल्लीनता जुटाई जाती है। मन और पाचो इन्द्रिया अपने-अपने विपयो मे अनियन्त्रित होकर अलग-अलग भटकते रहते हैं और इस अलगाव मे वे शक्तिहीन से दिखाई देते हैं। अपने विपय ओर कपाय की क्रियाओ मे मन चचल बन कर भोतिक सुख ओर सुविधाओ के वारे में ही सोचता हे। पाचों इन्द्रिया भी अपने ही विषयो मे रमण करना चाहती हैं। मन ओर पाचो इन्द्रियो की इस विपथगामिता को जो सन्नद्ध होकर रोकने का प्रयास हे, वही प्रतिसलीनता का तप हे। इस तप के माध्यम से मुख्य कार्य यह करना होता हे कि पहले वासनाओ पर नियन्त्रण करो, भावनाओ मे परिवर्तन लाओ, तब अपने आप पदार्थो के प्रति सलग्रता कम होने लगेगी। पहले ही पदार्थों को छोड़ने की कोशिश की और उनके प्रति ममत्व को नहीं हटाया तो वह बाह्य त्याग अस्थायी ही सिद्ध होता हे। अत पहले जो ममत्व है-मूर्छा हे-वासना हे कि में पाचो इन्द्रियो के विषयो मे खूब रमण करू-इस ममत्व, मूर्छा ओर वासना को त्यागो। इनका त्याग सरल नहीं होता। इन्हे त्यागने के लिये आत्मिक शक्तियो को जगाना और सन्नद्ध करना पड़ता है। यह सन्नद्धता प्रतिसलीनता के तप से आती हे ताकि फिर एक ही छलाग मे त्याग की ऊचाइया प्राप्त की जा सकती है।

जब प्रतिसलीनता के तप मे गहराई आ जाती है तो फिर उन्हीं तत्वो को ग्रहण करने की वृत्ति का निर्माण होता है जिनके जरिये आन्तरिक शक्तियो का सचय करके आत्म-बल मे वृद्धि की जा सकती हो। तब सारी वृत्तिया और शक्तिया इस भावना मे रमण करती है कि मैं अधिक से अधिक भीतर की शक्ति को उग्र बनाऊ और अपनी आत्मा को सत्, चित् और आनन्द मे सदा-सदा के लिये रमण कराऊ।

प्रतिसंलीनता की आराधना कैसे ?

आप सोचेगे कि इस प्रतिसलीनता के तप की आराधना कैसे की जाय? आप समझ गये होगे कि आत्मा के गोपन, सिकुड़न एव उसकी सन्नद्धता को पुष्ट बनाने मे इस तप का महत्व रहा हुआ है। अत इसकी आराधना पग-पग पर प्रतिक्षण की जा सकती है। जहा भी मन और इन्द्रिया अपने विषयो मे रमण करने की लालसा से दौड़ना चाहते है, वहा आत्मा अपने को गोपन करे, सकुचित बनावे और उस दौड़ पर रोक लगादे। इस भावना से यदि आप भोजन ग्रहण कर रहे है, तब भी आपकी प्रतिसलीनता तप की आराधना चल रही है, क्योकि उस भोजन मे आपकी गृद्ध दृष्टि-नहीं होगी, बल्कि उसे आप समभावना से ग्रहण कर रहे होगे। भोजन करते समय आप स्वाद के वश मे नहीं होगे तथा आपको यह विवेक रहेगा कि रुचि से कम खाया जाय , अधिक कतई नहीं। कारण, दृष्टि यह रहेगी कि मुझे जो भोजन करना हैं, वह आत्मा को पोषण देने के लिये करना है। आधिक या गरिष्ठ खाने से शरीर की शक्ति बिगड़ेगी तो उसके द्वारा आत्मिक साधना का क्रम भी बिगड़ेगा। प्रतिसलीनता के तप की आराधना करने वाला अपने सहज रूप से ही गति करेगा। भोजन के प्रति उसकी आसक्ति

नहीं होगी, बल्कि वह आत्मिक शक्तियों के पुष्टिकरण की ओर अपनी अभिरुचि जागृत रखेगा।

प्रतिसलीनता तप की इस भावना को सर्वोपरि रख कर एक साधक प्रत्येक आवश्यक पदार्थ को तटस्थ भाव से ग्रहण करेगा। उसका दृष्टिकोण यह रहेगा कि वह वैसे ही पदार्थों का ग्रहण करे, जिनका किसी भी प्रकार से आत्म-जागृति के प्रयासो पर कुप्रभाव नहीं पड़े बल्कि उनसे इन प्रयासों में सहयोग मिले। वह ध्यान रखेगा कि कोई भी खाद्य या पेय पदार्थ ऐसा नहीं ले लिया जाय जो संवाहक नाड़ियों मे उत्तेजना पैदा करे और आत्म-जागृति की साधना म विकृति लावे। इसीलिये वह हिंसा एव उत्तेजनापूर्ण पदार्थों का सर्वथा त्याग कर देता है। वह कभी भी अण्डे, मास या दारू, तम्बाकू, अफीम, गाजा, भाग या चरस जैसे पदार्थों को काम मे नहीं लेता है। कारण, ऐसे पदार्थ शरीर और आत्मा-दोनो को कर्त्तव्य शून्य बनाते हैं। यदि एक गृहस्थ इन पदार्थों का त्याग करता है तो यह माना जायगा कि वह प्रतिसलीनता के तप का आराधन कर रहा है।

आत्माभिमुखी बनना पतिसलीनता तप का मूल लक्ष्य है। प्रत्येक पदार्थ इस भावना से ग्रहण किया जाय कि मुझे अपनी आत्मा को शक्तिशालिनी बनानी है और इस काम मे जो प्रतिकूल पदार्थ हैं, उनकी तरफ अपने मन और इन्द्रियों को बढने से रोकू। रस परित्याग के तप से रसना पर नियन्त्रण किया जाता है तो प्रतिसलीनता के तप से सभी इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास करना होता है। यह तप भी खाते-पीते किया जा सकता है क्योकि मन को ऐसा मोड देने का कार्य इस तप की आराधना से करना होता है कि प्रत्येक क्रिया आत्माभिमुखी बन जाय। यह तप साधु जीवन के लिये तो है ही, परन्तु गृहस्थ भी अपने जीवन मे इस तप को अपनी भावनाओ में समुचित परिवर्तन लाकर साकार रूप दे सकता है।

भावनाओ मे परिवर्तन का सूत्र

प्रतिसलीनता का तप मन और इन्द्रिया की स्वच्छन्दता पर अकुश लगाता हुआ भावनाओ को शरीर मोह से आत्म-जागृति की दिशा में आगे बढ़ाता है और इस प्रकार भावनाओ में नव उद्बोधक परिवर्तन का सूत्र पैदा करता है। आप चिन्तन कीजिये, भडोपकरण की दृष्टि से इन्सान जरा शरीर पर धारण करने के लिये वस्त्रो की आवश्यकता महसूस करता है, किन्तु इस आवश्यकता की पूर्ति के दो रास्ते हो सकते है। एक तो बहुमूल्य और चम-चमाते वस्त्र धारण किये जाय और उस वेशभूषा से अपने को गर्वित बनाया जाय। दूसरा शरीर की लज्जा ढकने के निमित्त से सादे खादी के वस्त्रो का धारण किया जाय। पहला रास्ता म प्रतिसलीनता के तप का अभाव है तो दूसरा रास्ता इस तप का रास्ता है।

मूल रूप से वस्त्र धारण का प्रयोजन यह होता है कि शरीर की लज्जा ढकी जाय, क्योंकि शरीर की नग्नता से विकारी भाव उपजते हैं। शरीर ढका [illegible] [illegible] [illegible] देख [illegible] नहीं [illegible]। इन्सान के मन में [illegible] [illegible] धारण का प्रयोजन

होता है। सही प्रयोजन की ओर ध्यान रहे-यह भावनाओ मे परिवर्तन का सूत्र होना चाहिये। जो सही प्रयोजन एव सही भावना के साथ सादे और शुद्ध वस्त्रो का प्रयोग करता है, वह वस्त्र धारण करते हुए भी प्रतिसलीनता के तप का आराधन करता है। ऐसा तप एक ओर आन्तरिक विशुद्धि को फैलाता है तो बाहर भी आर्थिक समस्याओ को सही तरीके से सुलझाता है। सही प्रयोजन एव सही भावना के हाथ कैसे वस्त्र धारण करना चाहिये-यह भी एक विस्मृत विषय है। जो श्रृगार एव कामुकतापूर्ण लिप्सा से वस्त्रो का चुनाव करते है, वे कीमती और चमकदार वस्त्रो का प्रयोग करते है। इन वस्त्रो के निर्माण मे चर्बी एव अन्य पदार्थों का उपयोग होता हैं जिनके लिये भारी हिसा होती हैं। ऐसे वस्त्र आर्थिक दृष्टि से भी उचित नहीं होते तथा टिकाऊ भी नहीं होते। बिना चर्बी की खादी या रेजी कितनी गुणकारी, सादी और टिकाऊ होती है? वस्त्र भी अपना प्रभाव आदमी के चरित्र पर छोड़ते है। सादे वस्त्रो मे लिपटा व्यक्ति का व्यक्तित्व चरित्रशील रहता है और दिखाई देता है। मुख्य तो यह है कि ये सारे कीमती वस्त्र इन्द्रियों के विषयो का पोषण करते है व आत्मा की शक्ति को घटाते है। सादे वस्त्रों को धारण करना आध्यात्मिकता की दृष्टि से प्रतिसलीनता के तप का आराधन करना है।

स्व० आचार्य श्री गणेशीलाल जी म० सा० अपने व्याख्यानो मे फरमाया करते थे कि जो सादे और शुद्ध खादी के वस्त्र धारण करता है, वह केवल प्रतिसलीनता का तप ही नहीं करता, बल्कि दान, शील, तप और भावना की शक्ति को भी अभिवृद्ध बनाता है। शुद्ध वस्त्रों में हिसा का तो त्याग होता ही है, आत्म-जागृति का सचार भी होता है। कीमती वस्त्रों को तैयार करने मे हिसा भी कम नहीं होती है। जो मूक पशु जिस निर्दयता के साथ कत्लखानों मे मारे जाते है-वह अतीव करुणाजनक दृश्य होता है। जो चर्बी के वस्त्र पहिन कर इठलाते है, वे इस महापाप के भागी होते हैं। किन्तु जो खादी के वस्त्र पहिनते है, वे एक प्रकार से जीवो को अभयदान देते है। यह दान की स्थिति है। शील की स्थिति यह है कि खादी के वस्त्र सादगी के प्रतीक होते है तथा उनको धारण किये रहने पर अपने मन मे भी शुद्धता का भाव रहता है तो देखने वाले पर भी शुद्धता की छाप पड़ती है। कीमती वस्त्र पहनने वाले का खास ध्यान अपने वस्त्रो को देखना और अपनी सुन्दरता को दूसरों को दिखाना होता है, जिससे शील भग की स्थिति रहती है। इन्द्रियों के विषयो का निरोध करने से खादी के वस्त्रो के कारण प्रतिसलीनता के तप का आराधन भी होता है तो सादगी भरे वातावरण में भावना भी शुद्ध और निर्मल बनी रहती है। जीवन का एक-एक आचरण जब आत्माभिमुखी बनता है तब प्रतिसलीनता के तप का आराधन होता है तथा जीवन मे उन्नतिशील भावनाओ का सचार होता है।

बाहर सुधरिये, भीतर झांकिये

वाहर से भोजन, वस्त्र धारण एव रहन-सहन आदि के प्रत्येक आचरण का जीवन की आन्तरिक भावनाओ पर बड़ा असर पड़ता है। भोजन शरीर के पोषण के लिये होता है या

आत्मा के पोषण के लिये? वस्त्र धारण से आप शरीरगत वासना को बढा रहे हैं या आत्मा की सद्वृत्तियों को? सारा रहन-सहन आपको विषय कषाय के विकारो में फसा रहा है या आत्म-जागृति की ओर ले जा रहा है? बाह्य जीवन के इन सारे कार्य-कलापों पर एक साधक की सदा आलोचनात्मक दृष्टि रहनी चाहिये। प्रतिसलीनता के तप का यही प्रभाव होना चाहिये कि बाहर का जीवन इन्द्रिय पोषण की दिशा में नहीं, बल्कि आत्म-जागृति की दिशा मे अग्रसर करने वाला हो। इसे ही आप बाहर का सुधरना कह सकते हैं। बाह्य जीवन में इस सुधार के बाद आवश्यक पदार्थो को ग्रहण किया जाता है किन्तु निरपेक्ष भाव से। ग्रहण में आसक्ति या ममता नहीं होती। उसमें शरीर रक्षा का भाव होता है कि उस शरीर को रक्षित बना कर उसके माध्यम से आत्म-साधना की जाय। यही बाहर से सुधर कर भीतर झाकना कहलाता है।

जैसे मैंने बच्चे का उदाहरण दिया कि नित प्रति के अभ्यास से वह मण भर वजन को भी सहज ही में उठाने की क्षमता बना सकता है, उसी प्रकार आत्म-जागृति के लक्ष्य से प्रत्येक भव्य आत्मा अपने बाह्य जीवन को भी प्रतिसलीनता तप के माध्यम से सादा एव शुद्ध बना अन्तर्मुखी स्वरूप, प्रदान कर सकती है। यही जीवन की सहजता होती है।

आत्म-शक्ति सर्वोपरि बने

सहज भाव से जो अपने जीवन मे तपाराधन करते हैं और आत्म जागृति की दिशा मे आगे बढते हैं, वे अपनी आत्म शक्ति को सर्वोपरि बना लेते हैं। वैसी आत्म-शक्ति निर्मल भी होती है तथा सफल नियन्त्रण भी। यह तपाराधन सिर्फ भूखे रहने से ही नहीं होता है बल्कि खाते-पीते भी ये तप किये जा सकते हैं। जो सही भावना के साथ जीवन निर्माण में ऊचा फल देते हैं। सोई हुई आत्मा इस तपाराधन से जागती है। छोटे-छोटे तप करना भी पहले सीखें, उनका अभ्यास बनावें और तब धीरे-धीरे महान् तप करना भी सरल हो जायगा। यह तपाराधन जितना उत्कृष्ट बनेगा, आत्म-जागृति उतनी ही विशिष्ट होगी तथा प्रणिधान की शुद्धता उतनी ही प्रदीप्त बनेगी।

भगवती सूत्र मे वर्णित चले माणे चले के अनुसार शुद्ध लक्ष्य के प्रति तपाराधन के साथ जितनी गति की जायगी, उतनी ही आत्म-शक्ति प्रखर बनेगी तथा जीवन मे मगल एव कल्याण का सचार होगा।

गगाशहर-भीनासर

दि० २७-११-७३

15

पाप और तप का ताप

- अनिवार्य हिंसा में हिंसा का चाव नहीं होता, विवशता का भाव होता है और विवशता से की जाने वाली हिंसा के लिये भी पश्चाताप और प्रायश्चित लिया जाता है।
- अनिवार्य हिंसा से अल्प हिंसा और अल्प हिंसा से स्वल्प हिंसा की ओर आगे बढ़ना ही तपाराधन है।
- तप अपने ताप से पाप को जलाता है।
- तप मनोनिग्रह और इन्द्रिय दमन का सशक्त साधन है।

साधारण क्षमता वाला व्यक्ति भी अगीकार कर सकता है तो महान् से महान् व्यक्ति भी इनके सर्वोच्च रूपो पर आचरण कर सकता है। चाहे राष्ट्र का बहुत बड़ा नेता हो या छोटे से छोटा मजदूर अथवा दोनो के बीच के वर्ग का आदमी-सभी अपनी-अपनी योग्यता एव क्षमता के अनुसार एक ही तप का न्यूनाधिक रूप से आराधन कर सकते हैं।

तप के इस साहजिक स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रत्येक व्यक्ति ध्यानपूर्वक श्रवण करे, चिन्तन करे तथा उस पर आचरण करे, तभी वह तप की दिव्य महत्ता का यत्किंचित् मूल्याकन कर सकता है। इस मूल्याकन की कसौटी यह भी होगी कि उसने स्वय ने तपाराधन से अपनी आत्म-शक्ति को कितने अशो मे परिमार्जित बनाया है? सहज तप की भावना अन्तर्शुद्धि को माजने में बलवती प्रेरणा प्रदान करती है। सच पूछे तो साहजिक योग की प्रक्रिया ही सरलतापूर्वक सफल बनती है। हठपूर्वक की गई साधना तथा हठ के साथ किया गया तप भी सही रूप से सार्थक नहीं होता है। सहज भाव से किया गया तप कर्मो की सकाम निर्जरा करता है तो आन्तरिक पवित्रता तक पहुचाने का निष्कटक पाथेय बनता है।

प्रतिसंलीनता का तप और वेशभूषा

प्रतिसलीनता तप के अन्तर्गत भडोपकरण प्रतिसलीनता के विवेचन मे भोजन एव वस्त्र धारण की वृत्तियों पर विवेचन चल रहा है। वस्त्र धारण से सम्बन्धित प्रतिसलीनता के तप के विषय मे मै कह रहा था कि कीमती और बढिया वस्त्रो को छोड़ कर सादे और शुद्ध खादी के वस्त्रो को धारण करने का प्रत्येक विवेकशील व्यक्ति को सकल्प लेना चाहिये। वस्त्रों में जो कीमती, बढिया रेशमी आदि वस्त्र होते हैं, आप जानते होगे कि कीड़ो का निर्दयता से सहार करके इनका निर्माण किया जाता है। ऐसे हिसाजनित वस्त्रो का यदि त्याग नहीं करे तो वह जीवन कितनी कालिमा से रग जाता है- इसका सहज ही मे अनुमान लगाया जा सकता है। प्रतिसलीनता के तप का यह प्रभाव होता है कि आप इन्द्रियो की विषय-कषाय की प्रवृत्तियो पर रोक लगाकर सादे वस्त्रो को ही सदा धारण करने का अपना निश्चय बना लेते हैं।

वेशभूषा के सन्दर्भ मे वस्त्रो के सिवाय आभूषणो का भी उल्लेख किया जा सकता है। जिस व्यक्ति को ज्ञानपूर्वक प्रतिसलीनता के तप का विज्ञान होता है, वह प्रतिक्षण अपने प्रत्येक व्यवहार में वस्त्र सम्बन्धी अथवा आभूषण सम्बन्धी प्रत्येक प्रक्रिया मे इस बात से पूर्ण सावधान रहेगा कि वह हिसा से भी बचे तथा इन्द्रियो के विषयो मे न बहते हुए आत्म-जागृति के मार्ग पर भी सन्नद्ध रहे। आभूषण के सम्बन्ध मे मोतियो के जेवर पहिनने का आजकल धनाढचो को काफी शौक लग रहा है और वे समझते हैं कि उनके मोतियो के आभूषणो की ओर सब की टकटकी लगी रहेगी। किन्तु उन्हे चिन्तन करना चाहिये कि मोतियो के जेवर पहिन कर वे अपनी आत्मा को कितनी मलिन बना रहे हैं? क्या आप जानते हैं कि मोतियों के जेवरो मे कितना पाप लगता है? एक मोती कितनी क्रूर हिसा के बाद मिलता है? कई बार भोले लोग कह बैठते है कि मोती की माला पहिनने मे क्या पाप है, इससे अधिक पाप को

फूलों की माला में लगता है। किन्तु यह विचार की सही दृष्टि नहीं है। उनकी दृष्टि केवल वर्तमान को देखती है कि मोती तो निर्जीव हैं और फूल सजीव-इस कारण फूलों की माला धारण करने में अधिक पाप का भाग मिलता है। इसी दृष्टि को जरा पीछे घुमावें तो हिंसा की तुलनात्मक स्थिति सामने आवेगी। आप जानते होंगे कि मोती समुद्र में सजीव सीपियों में पाया जाता है जिन्हें गोता-खोर अपने जीवन को जोखिम में डाल कर निकालते हैं, चीरते हैं और सैकड़ों को चीरने पर एकाध कीमती मोती मिलता है। इस प्रकार एक मोती की प्राप्ति के पीछे सैकड़ों जीवों की हत्या का पाप होता है। मोती निकालने वाले लोग ये मोती अपने लिये नहीं निकालते मोतियों के आभूषणों के शौकीन धनाढ्यों के लिये निकालते हैं। अब बताइये कि सैकड़ों जीवों की महान् हिंसा का भागी कौन है? पापी तीनों हैं-एक जो स्वयं पाप करते हैं, दूसरे जो अन्य से पाप करवाते हैं तथा तीसरे जो हो रहे पाप का अनुमोदन करते हैं।

पाप के घनत्व का मापदण्ड इस तरह हिंसा के घनत्व पर आधारित होता है। इस मापदण्ड को नहीं देखने वाले ही समझ सकते हैं कि मोतियों की माला में पाप कम है और फूलों की माला में ज्यादा। यह अन्धकार सरीखी बात है। छोटे जीवों की बजाय बड़े जीवों की हिंसा में महापाप होता है और गृहस्थ के लिये यह आवश्यक है कि पहले वह महापाप को त्यागे और फिर अल्प पाप को भी छोड़े। महापाप का सेवन करे और अल्प पाप को त्यागने की बात हास-सा उपहासास्पद लगता है।

कितने दानो के जीवो तथा वायु, अग्नि, जल आदि के जीवो की हिसा का प्रसग होता है? तब उसको यह कहना आसान होगा कि हजारो एकेन्द्रिय जीवो की हिसा करने वाला महापापी और एक बकरे की हिसा करने वाला अल्प पापी हुआ। किन्तु यह सही विचार और वास्तविक स्थिति नहीं है।

सोचिये कि कहा तो एकेन्द्रिय जीवो की गिनती है और कहा पचेन्द्रिय जीवो की घात की स्थिति है? दोनो हिसाओ को एक तुला मे तोलने का प्रयास कुप्रयास के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह प्रकाश से अन्धकार की ओर ले जाने वाला विचार है। इसके प्रसग मे शास्त्रीय विश्लेषण को भी सामने रखना चाहिये। शास्त्रो मे आनन्द जो आदि निष्ठावान श्रावको के जीवन वृत्त आये हैं, जिन्होने बारह व्रतो को अगीकार करके अपने जीवन में त्याग और तप को विशिष्ट रूप से स्थान दिया था। उनके लिये भी यह स्पष्ट उल्लेख आया है कि महापाप को तो उन्होने त्याग दिया था किन्तु अल्पपाप की स्थिति से एकेन्द्रिय जीवो की हिसा उन्हें उदासीन भावो से करनी पड़ती थी यद्यपि उसमे वे मर्यादाए अवश्य कायम करते थे। यदि वे एकेन्द्रिय जीवो की हिसा को महापाप मानते तो वे अपने जिम्मे खेती आदि के कार्य नहीं रखते । आनन्द जी ने ही श्रावक व्रतो को ग्रहण करते समय अपने लिये पाच सौ हलवाह जमीन खेती के लिये रखी। यदि इसमे महापाप होता तो वे एकेन्द्रिय जीवो की हिसा के कारण खेती की जमीन को रखते ही नहीं और रखते तो शास्त्रकार उन्हे श्रावक नहीं बताते। इसका साफ अर्थ है कि एकेन्द्रिय जीवो की विवशता की स्थिति मे हिसा करने, करवाने या उसका अनुमोदन करने वाला श्रावक महापापी नहीं होता।

शास्त्रीय अभिप्राय के अनुसार एकेन्द्रिय जीवो की हिसा को विवशतावश एव पश्चाताप के साथ अपने जीवन से सम्बन्धित बनाने वाले को महापापी की सज्ञा नहीं दी जा सकती है। यदि जीवन-निर्वाह एव खेती आदि मे एकेन्द्रिय जीवो की हिसा करने वाले को महापापी समझा जावे तो भला आनन्द जी आदि दसो प्रमुख श्रावक भगवान् की आज्ञा के आराधक कैसे कहलाते ?

महापाप की शास्त्रीय दृष्टि

शास्त्रीय दृष्टि से महापापी नरक गति मे जाता है तथा नरक मे जाने के कारणो का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि जो महारम्भी, महापरिग्रही और पचेन्द्रिय जीवो की घात करने वाला महापापी होता है, वह नरक मे जाता है। यदि एकेन्द्रिय जीवो की हिसा महापाप होती तो इन श्रावको की गति स्वर्ग की कभी नहीं बताई जाती। शास्त्रकारो ने यह भी कहा है कि श्रावक व्रतो की भूमिका पर रहता हुआ कोई अगर अगले जन्म के आयुष्य का बन्ध करले तो वह वैमानिक देव के आयुष्य का बन्ध करता है। आराधक श्रावक कम से कम भी प्रथम और द्वितीय देवलोक में जाता है और उत्कृष्ट मे जावे तो बारहवे देवलोक तक पहुचता है। तो देवलोक के आयुष्य की स्थिति महापाप के आधार पर नही बन सकती है। शास्त्रीय पाठ से

यह भली-भांति सिद्ध हो जाता है कि एकेन्द्रिय जीवों की जो लाचारी से हिंसा करता है उनकी वह हिंसा महापाप की परिभाषा में नहीं आती है। श्रावक का उस हिंसा के बिना चारा नहीं है, इस कारण वह विवशता और प्रायश्चित के साथ उसे करता हुआ चलता है। इसके साथ ही प्रतिसंलीनता के तपाराधन द्वारा अपनी आत्मा का अधिक गोपन करता हुआ अल्प से स्वल्प पाप में अपनी प्रवृत्तियों को ढालता है।

महापाप और अल्पपाप का विज्ञान हमको किसने बताया? कर्म और धर्म दोनों की इस काल-प्रवाह में सर्वप्रथम शिक्षा देने वाले भगवान् श्री ऋषभदेव थे। उनके युग में पहले युगलिया जीवन चलता था। न कोई खेती करना जानता था, न कर्म या धर्म का ही अन्य कोई कार्य। जब युगलिया जीवन बिगड़ने लगा और हिंसा-प्रतिहिंसा का वेग बढ़ने लगा तो ऋषभदेव ने गृहस्थ अवस्था में रहते हुए असि (तलवार), मसि (स्याही) और कसि (कृषि) के कर्म बताए। असि से रक्षा करके, मसि से लिखा-पढ़ी करके और कसि से खेती करके जीवन निर्वाह के उपाय उन्होंने लोगों को सुझाये। तो क्या भगवान् ऋषभदेव ने लोगों को महापापी बनने का मार्ग बताया? यदि खेती और एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा महापाप का कारण होती तो भगवान् ऐसे महापाप का मार्ग कभी भी नहीं बताते।

भगवान् अपनी गृहस्थ अवस्था मे भी अतीव ज्ञानी थे। उन्होंने देखा कि जीवन निर्वाह सर्वांश हिंसा के त्याग पर सिवाय साधु जीवन के सम्भव नहीं होता, अतः आम लोगों को ऐसा मार्ग बताया जाय जिसमे अल्प हिंसा होती हो। किन्तु इसके साथ महारम्भ एवं महाहिंसा से उन्हें बचाने का भी उनका पूरा ध्यान था, अतः कहीं भी पंचेन्द्रिय की हिंसा को किसी भी कारण से आवश्यक नहीं बताई। इसे मैं काल की विडम्बना कहूं या मानव की अथवा पाश्चात्य संस्कृतिजन्य दुर्दशा कहूं कि ऐसे कुतर्कों का जन्म होता है और हिंसा-अहिंसा के सम्बन्ध में भ्रामक धारणाओं का प्रसार किया जाता है। महापाप और अल्प पाप के सम्बन्ध में शास्त्रीय दृष्टि निपुण रही है और यह देशना भी साफ है कि अल्पपाप का विमोचन भी प्रतिसंलीनता के तप के माध्यम से एक श्रावक को निष्ठापूर्वक करते रहना चाहिये। भगवान् ने गृहस्थ अवस्था में कर्म-कलाएं सिखाईं, किन्तु बाद में संयम लेने तथा केवलज्ञान प्राप्त करने पर भी उन्होंने अपने पूर्व निर्देश को संशोधित नहीं किया कि पहले जिसमें अल्प पाप बताया गया था उसमें वास्तव में महापाप होता है। उन्होंने चारों तीर्थों की स्थापना के बाद भी श्रावक-श्राविकाओं को मर्यादाओं का निर्देश दिया, वह भी स्पष्ट है। महापाप और अल्पपाप की परिभाषा इस सब निर्देश से पूर्ण स्पष्ट है।

आनन्द जी आदि श्रावको का आचरण था। सभी दृष्टियो से चिन्तन करने के वाद निष्कर्ष रूप मे यही ज्ञात होगा कि एकेन्द्रिय जीवो की हिसा गृहस्थ के लिये अनिवार्य हे। यह हिसा वह विवशतावश करता है ओर कम से कम हिसा करने का विवेक रखता हे-यह उसका एक दृष्टि से तपाराधन है। परन्तु पचेन्द्रियो की हिसा कहीं भी आवश्यक नहीं होती-कोई अपने जीवन मे मोतियो की माला का उपयोग नहीं करे तव भी चल सकता हे। अन्न-जल के अभाव मे जिन्दगी का चलना मुश्किल हो जाता है, मोतियो के अभाव मे नहीं। इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रख कर वर्तमान को ही नहीं देखे वल्कि पीछे के पाप को भी तोले ओर आगे के सूत्र को भी ख्याल मे लेवे। कोई भद्रिक प्राणी यह तर्क तक कर वेठते हैं कि फूलो की माला आज पहनी, कल कुम्हला जायगी तो बार-बार एकेन्द्रिय जीवो की हत्या होगी, जवकि मोतियो की माला की हिसा तो एक बार ही होती है। यह भी वैसा ही विद्रूप तर्क हे। असल वात हिसा के घनत्व को समझने की है और यह देखने व फर्क करने की हे कि किस सीमा तक अनिवार्य हिसा गिनी जायगी और कहा जाकर वह निर्वार्य बन जायगी? यह विवेक की दृष्टि होगी। अनिवार्य हिसा मे हिसा का चाव नहीं होता, विवशता का भाव होता है ओर विवशता से की जाने वाली हिसा के लिये भी पश्चाताप और प्रायश्चित लिया जाता है।

अनिवार्य हिसा की सीमा मे भी अल्प हिसा से स्वल्प हिसा की ओर आगे बढने का नाम तपाराधन है। तप की दृष्टि यह होती है कि मन और इन्द्रिया अपने विषयो की पूर्ति के लिये हिसा के जितने क्षेत्र मे स्वछन्द होकर भाग-दौड़ करना चाहती है, उनका निरोध कर लेना और उन क्रियाओ का भी यथासाध्य त्याग करना जो अनिवार्य हिसा के दायरे मे आती है। तपाराधन की वृत्ति आत्मा का गोपन और सकुचन करती है-जीवन-निर्वाह के आवश्यक साधनो को भी अल्पतम सीमा मे मर्यादित बना देती है। उणोदरी तप क्या हैं? जो रुचि से खाते है, उससे भी कम खाइये। यह रस-परित्याग तप को स्वाद-वृत्ति को ही समाप्त करके सादे से सादे खाने तक जीवन को ले आता है। इस सादगी को सारे पदार्थों मे व्यापक बनाने वाला प्रतिसलीनता का तप होता है। जहा प्रतिसलीनता का तप है, वहा किसी भी विकार के दल-दल मे गिरने का प्रसग भी नहीं रहता है क्योकि इन्द्रियो आदि के गोपन से आत्मा मे अपनी जागृति एव शुद्धि के प्रति प्रत्येक क्षण मे पूरी सन्नद्धता रहती है। तपाराधन का जीवन मे यही विशिष्ट महत्व है कि वह शरीर मोह से हटाकर आत्मा मे केन्द्रस्थ बनाता है और शरीर मोह के कारण होने वाली अल्पतम हिसा से भी बचाता है। तपतपाता है शरीर को-इसलिये कि वह अपना सुख भूल जाय और अपने कर्तव्य को समझ जाय कि उसे आत्म-जागृति एव शुद्धि के सम्पादन मे अपना महत्वपूर्ण योगदान देना है। आप जानते है कि शरीर ही आत्म-साधना का प्रधान साधन होता है, बशर्ते कि वह सयमित और नियमित बन जाय। यह सयम और नियम का मार्ग तपाराधन से प्राप्त होता है।

छुटक पदार्थो का त्याग करे तो ये दोनो त्याग प्रतिसलीनता तप की श्रेणी मे ही आते हैं। भडोपकरण के बाद इन्द्रिय प्रतिसलीनता की वात आती हे कि मनुष्य अपनी पाचों इन्द्रियों को काम मे लेता हुआ भी उन पर निग्रह रखे। आप सोचेगे कि यह केसे हो सकता हे? उसे इस दृष्टान्त से समझिये । जेसे कोई व्यक्ति रास्ते मे चल रहा हे या कि कहीं वेठा हे ओर उसके कान मे फिल्मी गाने की तर्ज पड़ी जिसमें विकारी भाव भरे हुए हैं। अव एक तो वह उस गाने को सुनने मे दत्तचित्त हो गया तो वह उसका अशुद्ध प्रणिधान झलकता हे। दूसरे, वह अपनी कर्णेन्द्रिय को किसी महात्मा का उपदेश सुनने मे या अन्य शुभ श्रवण कार्य मे लगा देता हे तो यह प्रतिसलीनता का तप हुआ कि कर्णेन्द्रिय से उसका काम भी लिया, किन्तु उस पर निरोध रखा कि वह विकारी प्रवाह मे न बह जाय।

इसी प्रकार का व्यवहार प्रत्येक इन्द्रिय के साथ किया जा सकता हे जो वराई के प्रति निरोधात्मक व्यवहार होगा और यही व्यवहार एक प्रकार से प्रतिसलीनता के तप की साधना का प्रकार है। नैत्र किसी सुन्दर आकृति को देखते हैं-विकारी दशा पेदा होने लगती है कि साधक नैत्रो को इस प्रकार की भावना से नियन्त्रित करता है कि वे ही नैत्र उस सुन्दर आकृति मे मा या बहिन की छवि देखने लग जाते है। यह चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसलीनता का तप हो जायगा। इसी तरह मनुष्य की विकारी भावना का रूपक सिनेमा- गृह मे दिखाई देता होगा, जहा वह अपने नैत्रो और अपने मन की शक्ति के अपव्यय के साथ आर्थिक अपव्यय भी करता है। वहा प्रतिधान की शुद्धता भी बिगड़ती है। तो व्यक्ति विवेक धारण करके सिनेमा देखने से अपने मन को रोके और उसे किसी अन्य शुभ कार्य मे लगावे तो यह भी प्रतिसलीनता का तप होगा। इन्द्रियो और मन के पोषण से जितना नियन्त्रित रहेगे, उतना ही अधिकाधिक प्रतिसलीनता के तप का आराधन होगा, तथा यही तप मनुष्य को आत्माभिमुखी बनाता है और उसे आत्मा को पोषण करने वाली प्रवृत्तियो मे नियोजित करता है।

कल परसो मुझे एक भाई अपने विदेशो के अनुभव सुना रहे थे कि वहा बचो को हर कोई फिल्म नहीं दिखाई जाती है बचो के लिये अलग ही शिक्षाप्रद फिल्मे होती है। तो यह प्रारम्भ से बचो मे अच्छे सस्कारो को जमाने का एक नैतिक प्रयत्न है। यहा इस देश मे इतनी गहराई से विचार नहीं होता है, जबकि यहा तो ऐसी प्रवृत्तियो पर मनुष्य स्वेच्छा से ही तप मान कर अपने आप रोक लगा सकता है। इन्द्रियो को दौड़ने से इस तरह रोकेगे तो फिर आन्तरिक तपो की साधना भी सुसाध्य हो जायगी। लोग कहते हैं कि धर्म की तरफ युवको का आकर्षण नहीं है तो इसकी जवाबदारी उनके माता-पिताओं की है, जो बचपन से उन्हे न दिखाने लायक फिल्मे दिखाते हैं तथा उनके प्रारम्भिक सस्कारो को विकृत बनाते है। ऐसे विकृत व अशुद्ध सस्कार एक प्रकार से उनके सारे जीवन को बरबाद कर डालते है। इस अवस्था को आप बारीकी से देखे और इन बालको मे प्रारम्भ से कुछ न कुछ तपाराधन की वृत्ति डालें ताकि उन सस्कारो को लेकर वे अपने जीवन मे विकारो से लड़ सके तथा अपने जीवन को पवित्र बना सके। प्रतिसलीनता तप यदि इनके अभ्यास के क्रम मे डाला जाय तो यह जीवन मे एक

16

इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता

- स्व शक्ति अनुसार साध्य की दिशा में चलने से जीवन का निर्माण सम्भव है।
- आध्यात्मिक शक्तियाँ और सच्ची शांति का केन्द्र मानव जीवन है।
- इन्द्रियों के दुरुपयोग को रोकना प्रतिसंलीनता का तप है।
- जितना अधिक भोग-उतना ही अधिक दुःख-यह शाश्वत सत्य माना गया है।
- तप से ही आत्मा का निखार निखरेगा कि परमात्मा के तुल्य अजरामर शक्तियाँ अंगड़ाई लेती हुई आपकी आत्मा का वरण करने लगेंगी।
- इन्द्रियों के विषय विकार को निर्मूलित करने वाला यह तप भी ममत्व के बन्धनों को तोड़ कर जीवन में समता-वृत्ति का निर्माण करता है।

16

इन्द्रियों की प्रतिसंलीनता

* स्व शक्ति अनुसार साध्य की दिशा मे चलने से जीवन का निर्माण सम्भव है ।

* आध्यात्मिक शक्तियो और सच्ची शाति का केन्द्र मानव जीवन है ।

* इन्द्रियों के दुरुपयोग को रोकना प्रति सलीनता का तप है ।

* जितना अधिक भोग-उतना ही अधिक दु ख-यह शाश्वत सत्य माना गया है।

* तप से ही आत्मा का निखार खिलेगा कि परमात्मा के तुल्य अजरामर शक्तिया अगड़ाई लेती हुई आपकी आत्मा का वरण करने लगेंगी।

* इन्द्रियों के विषय विकारों को नियन्त्रित करने वाला यह तप भी ममत्व के बन्धनों को तोड़ कर जीवन में समत्व-दृष्टि का निर्माण कर देता है।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

मनुष्य जीवन चैतन्य स्वरूप होता है, किन्तु सासारिक मूर्च्छाओ से धूमिल पड़े इस चैतन्य-स्वरूप को अपने ही भीतर जगाना और अभिव्यक्त करना पड़ता है। चैतन्य-स्वरूप की पूर्णत जाग्रति एव अभिव्यक्ति ही इस जीवन का उद्देश्य होना चाहिये। इस पूर्णता को ही हम परमात्म-स्वरूप कहते हैं। वर्तमान मे इस आत्मा में परमात्म-स्वरूप की सत्ता का अस्तित्व अवश्य है परन्तु इस सत्ता का पूर्ण रूप से प्रकटीकरण जब तक नहीं किया जाय, इस आत्मा की परमात्मा के तुल्य स्थिति नहीं बनती है। इस परम पवित्र स्वरूप का विकास करने के लिये यह मानव तन ही सशक्त माध्यम के रूप मे माना गया है। इसी शरीर के जरिये अपनी आन्तरिक शक्तिया आच्छादित भी होती हैं तो इसी शरीर के जरिये ही अपनी समस्त शक्तियों को परम उज्ज्वल भी बनाई जा सकती है। प्रश्न इसके उपयोग का रहता है। साधान तो सदैव साधन ही रहता है। यह साधना को प्रयोग मे लाने वाले पर निर्भर करता है कि वह उस साधन का कैसा प्रयोग करता है? सिद्धि की प्राप्ति उसी प्रयोग-विधि पर निर्भर करती है।

साध्य और साधन का अभिन्न सम्बन्ध होता है जिसका सचालन साधक करता है। यदि साध्य सुनिश्चित है, किन्तु साधन का प्रयोग विपरीत दिशा में किया जाय तो साधक उससे सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकेगा। साध्य की सिद्धि साधन के सद्-प्रयोग से मिलती है। यहा भी चैतन्य की पूर्णता- यह साध्य है। साधक इसकी प्राप्ति मनुष्य तन के साधन से करना चाहता है किन्तु जब तक वह इस साधन की प्रयोग विधि को नहीं समझता है, तब तक साधन मिल जाने के बावजूद भी वह उसका दुरुपयोग करता रहता है। मनुष्य तन मिला है और उसका सद् प्रयोग आत्मिक शक्तियों के समग्र विकास एव चैतन्य की पूर्णता प्राप्ति में होना चाहिये, किन्तु यदि उसका दुरुपयोग विषय-वासनाओं की विकार वृद्धि में किया जाता रहे तो साधक साधक नहीं बनता, साध्य की उपलब्धि नहीं होती और मिला हुआ साधन भी निरर्थक हो जाता है।

साधन, साध्य, साधक और सिद्धि

साध्य की दिशा में साधन के सदुपयोग से साधक द्वारा प्राप्त की जाने वाली सिद्धि की प्रक्रिया में प्राथमिक रूप से साधन का विशेष महत्व होता है। इसी दृष्टि से मानव तन के विशिष्ट महत्व को समझने की आवश्यकता है। जिन तत्वों को वर्तमान में मानव तन द्वारा ग्रहण किया गया है, वे चैतन्य स्वरूप के अनुकूल नहीं हैं, फिर भी मूर्छा वृत्ति के कारण उन तत्वों और पदार्थो में अपना ममत्व निहित किया जाता है। यह झूठा ममत्व ही मानव-तन के दुरुपयोग का मुख्य कारण है। व्यर्थ ही यह चैतन्य आत्मा ससार के भौतिक पदार्थों को पकड़ कर उन्हें मेरा-मेरा समझती रहती है। वह अपने चिन्तन को इस रूप मे गहरे तक नहीं ले जाती है कि इस ममत्व के फेर में अनेकानेक व्यक्ति आ चुके हैं, उन्होंने इन भौतिक पदार्थों के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ कर यही समझा कि ये मेरे हैं और मैं इनका हू, किन्तु अन्ततोगत्वा

ये पदार्थ किसी के नहीं हुए-किसी के साथ नहीं चले और इनकी वजह से आत्मा के साथ कुछ भी जुड़ा तो वह इनका विकार जुड़ा और कर्मबन्धन बढा । ससार की ऐसी ही विचित्र दशा सभी नित प्रति देखते है, किन्तु उसे सही तौर पर समझने और उससे शिक्षा लेने की चेष्टा कम की जाती है-यह विडम्बनापूर्ण स्थिति है।

साधक आत्मा जब शरीर रूप साधन को पूर्णता प्राप्ति के साध्य की दिशा मे काम में लेने की बजाय स्वय ही परावलम्बी एव परमुखापेक्षी बन जाती है तो परतन्त्रता की अवस्था मे ऐसी विचित्र एव विडम्बनापूर्ण स्थिति का बनना स्वाभाविक ही होता है। परतन्त्र रहते हुए भी जब तक परतन्त्रता की स्थिति अखरे नहीं, तब तक उस परतन्त्रता को दूर करने की सज्ञा भी नहीं बनती है। आत्मा मे पहले यह ध्यान पैदा होना चाहिये कि मूल रूप मे मैं स्वतन्त्र हू, मै सर्वथा स्वतन्त्र बन सकती हू, क्योकि वैसी क्षमता मुझ मे विद्यमान है। यह ध्यान बन जाने पर आत्मा को अपने सामर्थ्य की अनुभूति होती है। तब परतन्त्रता को दूर करने का पुरुषार्थ जागता है। इस कारण अपने भीतर निरन्तर यह चिन्तन चलना चाहिये कि मै परतन्त्र क्यो हू , मुझे परतन्त्र करने वाले कौनसे तत्त्व है तथा इनसे मैं स्वतन्त्रता किन उपायो से प्राप्त कर सकता हू। इसी चिन्तन की मूल अनुभूति यह हो कि मेरे भीतर उच्चतम विकास की समूची क्षमता समाई हुई है-मैं सब साधन सामग्री से परिपूरित हू। सारे विश्व मे जिन-जिन श्रेष्ठ तत्त्वो की उपलब्धि है, उनकी विद्यमानता मेरे भीतर बीज रूप मे है-मैं जिन-जिन का विकास करना चाहू तो वह कर सकता हू। मै यदि जीवन विकास की दिशा मे मोड़ करू और निष्ठापूर्वक चलू तो कोई विकास ऐसा नहीं जिसे मै प्राप्त न कर सकू। ऐसी अनुभूति अपनी योग्यता और अपनी क्षमता की अनुभूति होती है। जब ऐसी अनुभूति पुष्ट बन जाय और अपनी परतन्त्रता का भान भी हो जाय तो वैसी मन स्थिति मे स्वतन्त्रता को प्राप्त करने के लिये आसानी से अथक प्रयासो की श्रृखला प्रारम्भ हो सकती है।

जीवन-दिशा की ओर मोड

ऐसा अनुभव, ऐसा चिन्तन और ऐसा पुरुषार्थ मनुष्य को वास्तविक जीवन-दिशा की ओर मोड़ने मे सफल बनता है। यहा जीवन की दिशा से तात्पर्य द्रव्य दिशा से नहीं है। द्रव्य दिशा जैसे आकाश की दिशा होती है- उर्ध्व दिशा-जिसका तो सम्भवत कोई अन्त नहीं पा सकता है किन्तु जीवन की जो अवस्था है, उसके विकास के अन्तिम छोर तक मनुष्य अवश्य ही पहुच सकता है। यह अन्तिम छोर ही जीवन की पूर्णावस्था का नाम है। आन्तरिक शक्तियो की पूर्णता प्राप्त करने के लिये आत्मा स्वय पर विश्वास करे और परमात्मा पर विश्वास करे। ये दोनो विश्वास उसके लिये आवश्यक है। यदि आत्मा ने स्वय पर पूरा विश्वास किया-अपने अस्तित्व को अपनी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के सन्दर्भ मे समझा तो निश्चित मानिये कि परमात्मा को उस आत्मा ने पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्धो मे अभिन्नता होती है। ध्येय और ध्याता तथा ज्ञेय और ज्ञाता के रूप मे एक दूसरे

का पूर्ण सम्बन्ध होता है। परमात्मा का स्वरूप ध्येय, ज्ञेय और लक्ष्य रूप मे विकासशील आत्मा को अपने समक्ष रखना चाहिये।

जब ध्येय समक्ष है, ध्याता की निष्ठा है तो ध्यान-शक्ति का प्रवाह उसमे जुड़ता है और जीवन-दिशा की ओर मोड़ होता है। ध्यान-शक्ति के प्रवाह के साथ यदि आत्मा स्व-स्वरूप की अवस्था मे तन्मय बनती है और इस परिपूर्ण दिशा का चिन्तन करती है तो वह चिन्तन केवल बौद्धिक दृष्टि से नहीं होता बल्कि उसमें आत्मानुभूति का पूरा पुट रहता है। उस समय उसका त्रिपुटी सा आकार बन जाता है। उस त्रिपुटी में वह फिर अपने स्वरूप को परमात्मा के तुल्य देखती है। वह परमात्मा की समस्त शक्तियों को अपने भीतर पाती है और अनुभव करती है। उसे अपने विशाल और व्यापक आन्तरिक स्वरूप की अनुभूति होती है। किन्तु ऐसी अनुभूति कथन करने मात्र से नहीं हो सकती है-ध्येय को ध्येय रूप में समझ लेने मात्र से सिद्धि का सोपान सिद्ध नहीं होता है। स्वय की शक्ति के अनुसार साध्य की दिशा में चलने का प्रयत्न किया जायगा, तभी जीवन का निर्माण हो सकेगा।

इन्द्रियो की प्रतिसंलीनता

साध्य की ओर अपने साधन का सदुपयोग करते हुए साधक भले ही मन्थर गति से चले-किन्तु उसकी सही दिशा मे गति अगर निरन्तर बनी रहती है तो साध्य तक पहुच पाना सुनिश्चित माना जा सकता है। इस गति को प्रारम्भ करने वाले विवेक को जगाने की आवश्यकता है, जिसके जरिये तप की दृष्टि से इन्द्रियों की प्रतिसलीनता प्राप्त कर ली जाय तो गन्तव्य स्थान तक पहुचा जा सकेगा। ज्यों-ज्यो इन्द्रियों के प्रति इस प्रतिसलीनता के तप की पुष्टि होती जायगी, प्रणिधान की शुद्धता भी अभिवृद्ध बनती जायगी। यह महाज्ञानियो की करुणा ही कहलायगी कि उन्होने ससार को आत्म-विकास का भव्य मार्ग दिखाया और यह ऐसा मार्ग है जिस पर पुरुष-स्त्री, बाल-वृद्ध, युवा सभी चल सकते हैं और अपनी आत्मा को तप पूत बना सकते हैं।

यह तप पूत अवस्था साहजिक योग से प्राप्त होती है। प्रतिसलीनता तप की विशेषता यह है कि इसके आराधन से इन्द्रिय निरोध होकर साहजिक योग ढलता है। इन्द्रियो के प्रति इस तप की आराधना इस दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण होती है। इन्द्रियों की सयम साधना सरल नहीं होती है। छोटी-छोटी बातों का भी ध्यान रखना पड़ता है-तप के छोटे-छोटे रूपों को जीवन में उतारना होता है, तब कहीं जाकर धीरे-धीरे इन्द्रियों पर सयम रखने का अभ्यास बनाया जा सकता है। इन्द्रिय प्रतिसलीनता के तप में पाचों इन्द्रियों के विषयो का सकोच करना होता है जिससे भोगोपभोग की दृष्टि में समत्व बुद्धि का विकास हो सके। चक्षु इन्द्रिय की प्रतिसलीनता के बारे में कुछ विचार किया है, जिसमे मैंने बताया कि अश्लील सिनेमा आदि प्रदर्शनों को देखना बन्द किया जाय तो यह तप होगा। यह तप कोई कठिन नहीं है, सिर्फ थोड़े से विवेकपूर्ण सयम की जरूरत है। किन्तु इस तप का लाभ बहुत है। आन्तरिक

शक्तिया जो ऐसे प्रदर्शनो के विकारो मे बहकर अपना अपव्यय करती हैं, उन्हे -आत्म-विकास के श्रेष्ठ मार्ग पर गतिशील बना सकेगे।

यह मानव-जीवन आत्मिक शक्तियो और सच्ची शान्ति का केन्द्र बनना चाहिये, क्योकि ये उपलब्धिया अगर इस जीवन मे भी अर्जित नहीं की जा सकी तो फिर किस जीवन मे की जा सकेगी? विकास के केन्द्र में पहुच कर अगर इन शक्तियों के अपव्यय को रोक लिया गया तो शान्ति की अनुभूति भी सहज ही प्राप्त की जा सकेगी। इसलिये इन्द्रियो की शक्तियो का अपव्यय रोकना जरूरी है। इन्द्रियो के विषयो मे जो रुचि दोड़ती हे, वह आत्मा की बेभानी के कारण है, वरना सदा अन्तरात्मा से आवाज आ जाती है कि कोनसा कार्य आत्म-शक्तियो का सदुपयोग है तथा कौनसा कार्य उनका दुरुपयोग? इस दुरुपयोग को जो रोकना हे, वह प्रतिसलीनता का तप है। यदि बचो को आप अश्लील प्रदर्शनो को समझा बुझा कर देखने से रोकते है तो यह एक प्रकार से इस तप की दलाली करते हैं। कभी-कभी मेरे भाई पचरगी आदि अनशन तप की दलाली करते हैं तो वे सिर्फ यही सोचते है कि उपवास, बेला, तेला आदि तप की ही दलाली करना, लेकिन प्रत्येक प्रकार के तप की दलाली एक सी लाभ प्रदायक होती है। अश्लील प्रदर्शनो को न देखने की प्रवृत्ति को फैलाने से इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप की दलाली होती है और इस दलाली का भी आत्मा को लाभ मिलता है।

इन्द्रियो के विषय और तप

चक्षु इन्द्रिय से आगे बढ़े तो घ्राणेन्द्रिय है। इस नासिका मे भी दोनो प्रकार की गन्ध प्रविष्ट होती है-एक सुगन्ध और दूसरी दुर्गन्ध। सुगन्ध पाकर खुशी होती है तो दुर्गन्ध से नाक-भौं सिकोड़ते हैं। सुगन्ध मे आसक्ति और दुर्गन्ध से घृणा-ये दोनो वृत्तिया इस आत्मा को मलिन बनाने वाली हैं। प्रतिसलीनता के तप की आराधना करने वाला दोनो प्रकार की अवस्था मे सम-वृत्ति रखता है और निरपेक्ष भाव से पदार्थो के स्वभाव को यथावत् रूप से देखता है। भावना यह रहनी चाहिये कि पदार्थ का स्वभाव तो सदैव परिवर्तनशील होता है- आज है और कल बदल जाता है। जिन पदार्थों से आज घृणा की जाती है, वे ही कल रूप-परिवर्तन के बाद ग्रहण योग्य बन जाते है। इस तप का यही अर्थ है कि ऐसी तटस्थ भावना बनाई जाय और आसक्ति तथा घृणा की वृत्तियो का त्याग किया जाय, जिनसे आत्मा मे राग द्वेष का विकार न फैले और कर्म-बन्धन न हो।

प्रतिसलीनता के तपाराधन मे इस दृष्टि से पदार्थ की शुद्ध एव अशुद्ध दोनो पर्यायो के प्रति समभाव पैदा होना चाहिये। कुछ भाई सोचते होगे कि ऐसा कैसे हो सकता है? सुगन्ध आयगी तो अच्छी लगेगी ही और दुर्गन्ध से जी घबरायगा ही, किन्तु भावना मे यथोचित परिवर्तन लाया जावे तो ऐसी सम-अनुभूति हो सकती है। ससार मे जितने पदार्थ है, वे कभी शुद्ध और कभी अशुद्ध पर्याय धारण करते रहते है। समझिये कि अगूर, सेव आदि फलो को मनुष्य चाहता है और अपने काम मे लेता है। वर्तमान की दृष्टि से वह सोचता है कि ये फल अछूते होने

चाहिये-जूठे या सड़े नहीं हो। किन्तु क्या आपने कभी सोचा है कि उन फलों मे जो तत्त्व रहा हुआ है, वह जूठा है? जूठा आप उसी को कहते हैं जिसे खाते-खाते किसी ने छोड़ दिया हो अथवा उसे अशुचि लग गई हो। अब सोचिये कि इन फलो के वृक्षो में कौनसा खाद दिया जाता है जिससे ये फल स्वादिष्ट बनते हैं? जो खाद दिया जाता है वह किसका बनता है? नगर का मैला, गन्दगी और सारे ऐसे दुर्गन्धमय पदार्थ-शायद जिनके ढेर के पास आप आसानी से जा भी न सकें-ऐसे खाद रूप में बनते हैं, जिसकी खुराक पाकर ये फल तैयार होते हैं। क्या जो जूठन, कूड़ा, कर्कट और गन्दगी दुर्गन्धमय थी, उसे ही आप फल के रूप मे नहीं खा रहे हैं? ये पुद्‌गल खाये जाते हैं, फिर फैंक जाते हैं और फिर खाने योग्य बन जाते हैं। पुद्‌गल परिवर्तन रूप इस सासारिक दशा को देखकर ऐसी भावना अपने भीतर के विवेक के जागने से पैदा हो सकती है कि सारे पदार्थों की शुद्ध एव अशुद्ध दोनों पर्यायो को समभाव से देखने की दृष्टि से देखें। ऐसी दृष्टि बनाने की प्रक्रिया ही इन्द्रियो के विषयक प्रतिसलीनता का तप है।

जिन आत्माओ की ऐसी सम्यक् दृष्टि बन जाती है और प्रतिसलीनता तप के प्रति गहरी रुचि हो जाती है, वे इस प्रकार चक्षु का तप करती है, नासिका का तप करती है और अन्य इन्द्रियो का तप करती हैं। इन्द्रियों के विभिन्न विषयों के विकार से उन्हें मुक्त करते हुए समत्व एव सयम की दृष्टि बना लेना-यह विशिष्ट तपस्या है- इसे याद रखें।

समदृष्टि की शिक्षा और सुबुद्धि प्रधान

इन्द्रियों और खास तौर से नासिका के लिये प्रतिसलीनता के तपाराधन की शिक्षा देने वाले एक दृष्टान्त का शास्त्र मे वर्णन आया है। अजितशत्रु महाराजा के सुबुद्धि नाम का प्रधान था जो सम्यक् एव समदृष्टि था। राजा जब सुगन्धित पदार्थों की सराहना करता तो प्रधान इतना ही कहता कि यह तो प्रत्येक पदार्थ का अपना-अपना स्वभाव है। राजा को यह अखर जाता। वे कहते कि शुद्ध पदार्थ क्या अशुद्ध होकर फिर शुद्ध हो सकता है? प्रधान कहते कि पदार्थो कि पर्यायें तो बदलती ही रहती हैं। इस परिवर्तन को तटस्थ भाव से देखना चाहिये-इसमें किसी परिवर्तन के प्रति राग और किसी परिवर्तन के प्रति द्वेष नहीं लाना चाहिये। ऐसी वृत्ति के निर्माण से प्रतिसलीनता का तप होता है। राजा को फिर भी सम-दृष्टि की यह शिक्षा पूरी तरह से गले नहीं उतरती थी।

एक दिन राजा अपने प्रधान के साथ नगर के बाहर जा रहे थे। किसी कारणवश उस दिन सारे नगर का मैला लेकर बहने वाले गटर की सफाई नहीं हो सकी थी। गन्दी कीचड़ मे से भारी दुर्गन्ध फूट रही थी। समीप आते ही राजा ने अपनी नाक को वस्त्र से ढक दिया तथा उस दुर्गन्ध के प्रति घृणा प्रकट की। किन्तु प्रधान हल्के से मुस्कराये और किया उन्होने कुछ नहीं। राजा ने यह देखा तो बोले कि क्या उनकी नासिका की सज्ञा समाप्त हो गई है? प्रधान ने धैर्य से उत्तर दिया- यह तो पदार्थ और इन्द्रिय का स्वभाव है- समदृष्टि से उसे समझना चाहिये।

महाराज अजितशत्रु को इस उत्तर पर बड़ा क्रोध आया और उन्होने पूछा कि क्या वे इस दुर्गन्धमय गन्दगी को भी मनुष्य द्वारा ग्राह्य बना सकते है? प्रधान ने उत्तर दिया कि वे ऐसा कर सकते है। राजा ने वैसा करने का आदेश दे दिया।

प्रधान ने उस गटर का पानी भर कर मगवाया और वे विविध प्रयोगो से उस पानी को स्वच्छ कराने लगे। जब वह शुद्ध जल बन गया तो उसे सुवासित बनाया गया। फिर एक सुराही मे भर कर जल राजा के भोजनालय मे भिजवा दिया गया कि भोजन के समय जब राजा जल मागे तो पीने के लिये उन्हे यह जल दिया जाय और उन्हे बतादे कि यह जल प्रधान जी ने भिजवाया है। ऐसा ही किया गया। भोजन के समय जब राजा ने उस जल को पिया तो वह उन्हे बड़ा ही स्वादिष्ट लगा। उन्होने रसोइये से पूछा कि आज यह इतना स्वादिष्ट जल कहा से मगाया गया है तो उसने कह दिया कि इसे प्रधान जी ने भिजवाया था। राजा ने सोचा कि प्रधान इतना भेदभाव रखता है कि अपने पीने का ऐसा स्वादिष्ट पानी आज ही उसने भिजवाया है। राजा ने प्रधान जी को उसी समय बुला भेजा और पूछा-ऐसा बढिया जल आपने कहा से मगवाया ? प्रधान ने उसी हल्की मुस्कराहट से कहा- इसमे बढियापने का कोई सवाल नहीं- यह तो पुद्‌गलो का अपना-अपना स्वभाव होता है। अच्छा-बुरे मे और बुरा-अच्छे मे बदलता रहता है।

राजा ने तुनक कर पूछा-इसका क्या मतलब? मै पूछ तो पानी के बारे मे रहा हू और तुम यह सब बात फिर दुहरा रहे हो।

प्रधान ने कहा-मै भी पानी ही के बारे मे निवेदन कर रहा हू। यदि आप नाराज न हो तो मैं आपको पूरी बात बताऊ ।

अब राजा की उत्सुकता बढ़ गई, बोले-पानी के बारे मे क्या बात है, जल्दी बताओ।

तब प्रधान ने बताया- महाराज, आप जिस पानी के स्वाद की प्रशसा कर रहे हैं वह पानी उसी गटर का है जो आपने उस दिन देखा था तथा आपने उसकी दुर्गन्ध से अपने नाक को वस्त्र से ढक लिया था। उसी पानी को मैने उसी दिन मगवाया था और इतने दिन उसका शुद्धिकरण किया गया तथा आज वह इस रूप मे परिवर्तित हो गया जिसका आस्वादन आपने लिया है।

राजा यह सुनकर आश्चर्यचकित रह गये कि कहा तो दुर्गन्धपूर्ण वह गटर का पानी था और कैसे वही पानी शुद्धिकरण की प्रक्रिया के बाद इतना स्वच्छ, शीतल और सुवासित हो गया? तब उसे पदार्थों के परिवर्तनशील स्वभाव का ज्ञान हुआ और यह समझ में आया कि पदार्थों के प्रति राग-द्वेष की वृत्ति रखे तो शक्तियो का अपव्यय होता है और इनके प्रति यदि समभाव रखा जाय तो जीवनी शक्ति का सचय होता है। सुबुद्धि प्रधान की समदृष्टि की शिक्षा का राजा के मन पर भारी असर हुआ और तब वह भी इस प्रतिसलीनता के तप की साधना

मे जुट गया।

ममत्व और समत्व की दृष्टियां

मनुष्य जितना इन्द्रियों के विषयों मे लिप्त होता है, उतना ही उसका ममत्व गाढा बनता है। प्रत्येक भोग्य पदार्थ को वह अपना समझता है, उसकी मूर्च्छा में अपने मन को डुबोता है और उन पदार्थो को मनुष्य अधिक से अधिक मात्रा में प्राप्त करने की कोशिश करता है। वह स्वय मूल रूप में क्या है इसे तो वह भूल जाता है और पदार्थों में ममत्व को रमा लेता है। मनुष्य की आत्म-विस्मृति इस सीमा तक हो जाती है कि वह इन भोग्य पदार्थों के लिये ही अपने को और अपने ही लिये पदार्थों को मानने लग जाता है। यह इस सबकी प्रगाढ़ मोह-दशा होती है।

भोग से ममत्व जागता है और ममत्व जिस कदर बढता जाता है, भोग लिप्सा भी गहरी बनती जाती है। यह निश्चित है कि भोग का अन्त दु खद होता है। इसे इस दृष्टान्त से समझिये कि आप बादाम के हलवे को स्वादिष्ट और पौष्टिक मानते हैं तो आप उसे खाते ही चले जाइये-खाते ही चले जाइये, फिर क्या परिणाम होगा ? क्या उससे बदहजमी और बीमारी नहीं होगी? और जब बीमारी होगी तो उस हलवे को सुखद कैसे मान सकते हैं? जितना अधिक भोग-उतना ही अधिक दु ख-यह शाश्वत सत्य माना गया है।

ममत्व की विरोधी दृष्टि समत्व की दृष्टि कहलाती है। ममत्व स्वार्थी और सकुचित होता है, किन्तु समत्व सबके प्रति समान और व्यापक तथा उदार दृष्टि वाला होता है। भोग से ममत्व जागता है तो तप से समत्व आता है। तप अपने शरीर को तपाने का नाम है और तपाना उसे कहते हैं कि जिन इन्द्रियों के विषयो से आत्म-विस्मृति होती है, उन विषयों का त्याग करके आत्म-जागृति की दिशा में बढ़ना। ये विषय त्याग से छूटते हैं और त्याग की भावना से ही तप का आराधन होता है। जिस परिमाण में बाह्य और आन्तरिक तपो की साधना की जाती है, उस परिमाण में विचार तथा दृष्टि मे समत्व की भावना प्रबल बनती है और उसी परिमाण में वह भावना मनुष्य के कार्यों मे उतरती है। उसे समत्व कहें या समता-एक ही बात है। समता जब मन, वचन एव कार्य मे समाविष्ट हो जाती है तो वह व्यक्ति एक प्रकार से अपने स्वार्थों के घेरों से ऊपर उठ कर लोकहित की दिशा में मुड़ जाता है। समभाव से इन्सान की जीवनी शक्ति प्रखर बनती है।

भोग और तप में एक भेद और होता है। भोग का अन्त कभी सुखद नहीं होता जबकि तप का प्रारम्भ और अन्त सदा सुखद होता है। तप करते जाइये- करते जाइये-उसका फल और सुख असीम होता है। इस तप की साधना को आप थोड़ा-थोड़ा करके या धीरे-धीरे भी करेंगे, तब भी आपके जीवन में समत्व सधेगा और ममत्व हटेगा। तप से ही आत्मा का निखार खिलेगा कि परमात्मा के तुल्य अजरामर शक्तिया अगड़ाई लेती हुई आपकी आत्मा का वरण करने लगेगी।

मानव तप का अभ्यास करें

समत्व की दृष्टि से तप के विभिन्न प्रकारों का अभ्यास मानव को करना चाहिये। एक छोटे से तप से भी मानव के जीवन में महान् परिवर्तन आ सकता है। मनुष्य सोचता है कि ऐसा कैसे हो सकता है? समत्व की कला को सीखने और तप के अभ्यास को गतिमान बनाने से ऐसा हो सकता है। प्रतिसंलीनता के तप के प्रसंग से ही आप समझें तो इन्द्रियों के विषय विकारों को नियन्तित करने वाला यह तप भी ममत्व के बन्धनों को तोड़ कर जीवन में समत्व-दृष्टि का निर्माण कर देता है। आत्मा को उज्ज्वल तथा प्रणिधान को शुद्ध बनाने का यह अमोघ साधन है। इस साधन से आत्म-विकास के साध्य को एक धैर्यवान साधक अवश्य ही प्राप्त कर सकता है।

गंगाशहर-भीनासर

दि० २९-११-७३

17

इस जिह्वा को सम्हालिये

* स्वाद और वाणी की मूल जिह्वा है ।
* स्वाद जय आत्म जय की भूमिका तैयार करती है ।
* जीवन से विकारों को समाप्त करना ही जिह्वा पर नियत्रण है ।
* पराक्रमी और पुरुषार्थी लोग वचन की रक्षा मे प्राणों की बाजी लगा देते है ।
* प्रतिसलीनता के तप द्वारा जिह्वा की स्वाद एव वचन शक्ति पर अपना नियन्त्रण कायम करे।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

किसी विशेष गन्तव्य स्थल की तरफ जब चरण चलते है तो उन चरणों की गति बाधारहित हो- इसके लिये इधर-उधर, आगे पीछे दृष्टिपात कर लिया जाता है। चारों ओर की स्थिति देख लेने के बाद गति तीव्र बन जाती है। यह तो बाहरी जीवन की सावधानी की बात है। किन्तु जब आन्तरिक जीवन को किसी दिव्य लक्ष्य के प्रति गतिशील बनाना हा तो वास्तव में उस साधक को कितनी अन्वेषक सावधानी तथा कितनी पैनी व चौमुखी दृष्टि रखनी चाहिए- इसका सहज ही में अनुमान लगाया जा सकता है। चहुमुखी सतर्क दृष्टि के साथ ही एक साधक अपने पवित्र लक्ष्य की उपलब्धि कर सकता है।

आत्मा की परम पवित्रता एव सहजता की उपलब्धि सरल नहीं होती है। उसकी प्राप्ति में जीवन की समग्र शक्तियों को जुटाना पड़ता है। उन शक्तियों की इस कार्य में सलग्नता तभी सम्भव होती है, जब वे अपने वर्तमान कार्यो से विराम ले ले। वहा से वे हटे और इस काम मे लगे, तभी पवित्रता की प्राप्ति हो सकती है। वास्तव में आन्तरिक शक्तियों का प्रवाह तो प्रति समय सरिता की तरह प्रवाहित होता रहता है, वह कहीं विराम नहीं लेता। प्रवाह की गति चलती रहती है, लेकिन देखना यह होता है कि वह प्रवाह निरर्थक रूप से या विनाशकारी रूप से बह रहा है अथवा जन-जीवन के कल्याण का कारण भी बन रहा है? उद्गम स्थान से एक नदी निकली और वह निरुपयोगी स्वरूप लिये सीधी समुद्र मे जा मिली तो उस नदी का कोई महत्व नहीं आका जाता है। कारण, उस नदी का पानी उद्गम स्थल पर मधुर था, बीच में भी वह स्वच्छ बना रहा किन्तु अन्त में जब वह पानी समुद्र में मिल गया तो क्षार होकर ग्रहण करने के लिये भी अयोग्य हो गया। नदी का वह मधुर और निर्मल जल निरर्थक गया और बाद मे अयोग्य हो गया तो इसे जीवनमय प्रवाह नहीं माना जाता है।

जीवन वह, जो समर्पित हो

सचा जीवन वहीं है जो शुभ लक्ष्य के प्रति समर्पित हो जाता है। यदि उसी सरिता के जल के समुद्र तक पहुचने के पहले सदुपयोग करने की विधिया निकाल ली जाय तो वही सरिता जन-जीवन के कल्याण का कारण भी बन सक्ती है। नदी पर बाध बाधे जाते हैं, जिनके जल से सिचाई होती है, बिजली पैदा की जाती है और उत्पादन वृद्धि के साधनो को फलदायक बनाया जाता हे। सासारिक दृष्टि से यह कार्य सार्वजनिक हित का मानते हैं। यह सरिता के जल का सदुपयोग कहा जाता हे तो इस बारे मे इन्सान की कितनी सावधानी रहती है?

इससे भी बढ़कर सावधानी जब जीवन-निर्माण की दिशा मे पैदा होती है, तभी जीवन का सदुपयोग सम्भव बनता है तथा जीवन समर्पित होता हे।

जीवन का प्रवाह तो चलता ही रहता है किन्तु समस्या हे उस प्रवाह को विकासशील दिशा मे मोड़ने तथा उस प्रवाह को आत्मा की पवित्रता व सहजता के लक्ष्य तक पहुचाने की। इस प्रवाह को यदि इसकी वर्तमान विकारी दशा मे ही बहने दिया जाय तो यह भी समुद्र के खारे पानी मे मिलने वाले सरिता के जल की तरह निरर्थक और पतनकारक बन जायगा। जीवन के इस प्रवाह का उद्गम असख्य प्रदेशी आत्मा के मूल धरातल से ही होता है और वहीं से वह चारो ओर फैलता है। परन्तु देखने की वात यही हे कि वह प्रवाह किस ओर बह रहा है? यदि वह ससार के समुद्र की तरफ बह रहा हे और उसमे जाकर घुलमिल रहा है तो समझिये कि उसकी सारी शक्तिया व्यर्थ हो रही हे तथा क्षार रूप बन कर अपनी मधुरता एव निर्मलता को वे खो रही है। नदी के जल की तरह मूल रूप मे जीवन की शक्तिया भी मधुर, प्रेरक एव स्नेहसिक्त होती है किन्तु ससार के विकारो मे मिलकर इतनी विषाक्त और विद्रूप हो जाती है कि वे सृजनात्मक न रह कर विनाशकारी बन जाती हैं। वे शक्तिया तब आत्महित एव लोकहित के कार्य मे अशक्त सी हो जाती हे। वे आत्मिक पवित्र शक्तिया सासारिक प्रपचो के खारेपन मे घुल-मिलकर जन समुदाय के लिये हितावह नहीं बनतीं।

आत्मा की इन्हीं शक्तियो को यदि मानव अपने विवेक से बाधे, जैसे कि एक इन्जीनियर नदी के प्रवाह को बाध कर बाध बनाता है तो उस रीति से मानव भी शक्तियो के बाध से विकासकारी सद्गुणो की सिचाई कर सकता है और दिव्य स्वरूप रूपी विद्युत् का उत्पादन कर सकता है। मानव इन सचित शक्तियो से जन-मानस के शुष्क उद्यानो को हरीतिमामय बना सकता है। जन समुदाय का मानसिक धरातल दिन प्रति दिन शुष्क एव विकृत होता जा रहा है, क्योकि उसमे ससार समुद्र के खारे पानी के पुट हर वक्त लगते रहते है, इस कारण यदि एक साधक अपने जीवन को समर्पित बना कर साधनो मे जुट जाय-अपने जीवन के मधुर प्रवाह को ससार समुद्र के खारे पानी मे न मिलने दे तो वह उस समर्पित जीवन से न सिर्फ अपनी ही आत्मा का उच्चतम विकास साध सकेगा, बल्कि लोकहित को भी सदिच्छापूर्वक सम्पादित कर सकेगा। उसका प्रणिधान भी इससे शुद्ध बनेगा।

आत्मिक प्रवाह के माधुर्य की रक्षा

आत्मिक शक्तियो का प्रवाह ससार समुद्र के खारे पानी मे न मिले और अपने माधुर्य की रक्षा करते हुए प्रवाहित हो सके-इसके लिये ज्ञानीजन ने तपाराधन का उल्लेख किया है। इन्द्रियो के क्षार-विकार को नष्ट करता हुआ तप इन आत्मिक शक्तियो को स्वच्छ एव मधुर बनाये रखता है। तप ही एक ऐसा साधन है जिसके ताप से जीवन मे रहे हुए दूषण नष्ट हो जाते है। जैसे कि व्यवहार पक्ष मे पानी के अन्दर रहे हुए विकारी तत्त्व ताप आत्मिक शक्तियो के मैल को नष्ट करके उनके स्वरूप को निखार देता है। निर्विकारी या निर्मल जल जैसे जीवन के

लिये स्वास्थ्यकर और हितकर होता है। तथा इसी कारण जल का एक नाम जीवन भी है, उसी प्रकार विवेकपूर्ण किया गया तपाराधन बाह्य एव आन्तरिक जीवन के विकास के सभी द्वार खोल देता है। तप आत्मिक प्रवाह के माधुर्य की सदा-सदा के लिये रक्षा का सशक्त साधन होता है।

जीवन की आन्तरिक धारा को पवित्र बना लें तो उसके बाह्य स्वरूप मे भी एक पवित्र नवीनता जन्म ले लेती है तथा आन्तरिक धारा को पवित्र बनाने के लिये यथाशक्ति बारह प्रकार के तपों में से सभी या किन्हीं तपो का आराधन आवश्यक है। तप की अग्नि के माध्यम से जीवन के प्रवाह में प्रविष्ट विकारो को समूल नष्ट करे तथा आत्मा के स्वरूप को निखारे- यह प्रत्येक के लिये सर्वाधिक अभीष्ट उद्देश्य होना चाहिये।

प्रतिसलीनता नामक तप के सन्दर्भ मे जो इन्द्रिय-प्रतिसलीनता पर विचार चल रहा है, उसमें अब घ्राणेन्द्रिय के बाद रसना इन्द्रिय सम्बन्धी प्रतिसलीनता के तप का प्रसग उपस्थित हैं। रसना इन्द्रिय का अर्थ है जिह्वा जीभ। इससे पहले वाला रस परित्याग का तप भी मुख्यत इसी जिह्वा से सम्बन्धित था और प्रतिसलीनता तप का यह भेद भी इसी जिह्वा से सम्बन्धित है । जिह्वा इस मानव शरीर का छोटा सा अग है किन्तु इसका जीवन प्रभाव की दृष्टि से बहुत ही बड़ा महत्व होता है।

जिह्वा की शक्ति और उसका प्रभाव

जैसे कान की सुनने की, आख की देखने की या नाक की सूघने की एक-एक प्रकार की शक्ति होती है, वैसे ही जिह्वा की एक शक्ति नहीं है। जिह्वा एक और विभिन्न प्रकार के रसो का आस्वादन करती है और इसी कारण उसका नाम रसना भी है तो दूसरी ओर वचनो की उद्गमस्थली भी जिह्वा ही होती है। यह जिह्वा स्वाद और वाणी की मूल होती है। ये दोनो शक्तिया अपने आपमें बड़ी विशिष्ट होती हें। इन शक्तियो के प्रवाह को यदि समझ लिया जाय तो इस ससार समुद्र की भी काफी जानकारी हो जाती है।

पहले जिह्वा की स्वाद शक्ति को ले ले। रस-परित्याग के सन्दर्भ मे यह स्पष्ट किया गया था कि स्वाद लिप्सा का सारे जीवन प्रवाह पर कैसा और कितना कुप्रभाव पड़ता हे। जिह्वा स्वाद के विषय मे जितनी अधिक लोलुप बनती है, उतनी ही अन्य इन्द्रिया भी अपने-अपने विषयों में अधिकाधिक आसक्ति ग्रहण करती हैं। यदि जिह्वा का पोषण करें तो सारी इन्द्रिया भोग की भूखी हो जाती हैं और यदि अनशन तप द्वारा इसी जिह्वा को भावनापूर्वक भूखी रखें तो सारी इन्द्रिया त्याग और तप के मार्ग पर तृप्त बन जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जिह्वा की स्वाद शक्ति जहा अनियन्त्रित बन कर भटकने लगे तो वह एक जीवन को ही नहीं, कई जीवनों को कठिन भटकाव में डाल सकती है और इसके विपरीत अगर स्वाद पर विजय प्राप्त करली जाती है तो अकेली स्वाद-जय आत्म-जय की भूमिका तैयार कर देती हे।

जिह्वा की दूसरी शक्ति है-वचन शक्ति। मन, वचन और कार्य के क्रम मे वचन की विशिष्टता यह है कि वह मन और कार्य दोनो को जोड़ता है। मन मे जो भी विचार उठते हैं, उन्हे वचन प्रकट करता है और यदि वचन सयमित और सन्तुलित बने रहे तो उनका कार्यान्वय भी स्वस्थ होता है।प्राण जाय पर वचन न जाई की कहावत से वचन का महत्त्व स्पष्ट होता है कि कई बार पराक्रमी और पुरुषार्थी लोग एक बार निकाले गये वचन की रक्षा मे प्राणो की बाजी तक लगा देते हैं। यही वचन शक्ति जिनकी काबू मे नहीं होती है उनके लिये यही कहा जाता है कि उनकी जीभ तो गाड़ी के पहियो की तरह घूमती रहती है। वे आदर के पात्र नहीं होते हैं।

स्वाद और वचन के रूप मे जिह्वा की शक्ति का जो प्रवाह बहता है, उस प्रवाह के माधुर्य की रक्षा को प्रत्येक मनुष्य यदि अपना पावन कर्त्तव्य माने तो ससार की बहुतेरी अधार्मिक प्रवृत्तिया तो स्वत ही समाप्त हो जाती हैं। जिह्वा के इस शक्ति-प्रवाह को भलीभाति समझने की आवश्यकता है और फिर यह देखने की आवश्यकता है कि यह प्रवाह अभी जिस दिशा मे बह रहा है-क्या वह दिशा इस शक्ति प्रवाह के दुरुपयोग की दिशा है अथवा सदुपयोग की दिशा ? जब दिखाई दे कि यह शक्ति प्रवाह दुरुपयोग की दिशा मे बढ रहा है एव आत्म-विकास तथा लोकहित को प्रतिबाधित कर रहा है तो उसे सदुपयोग की दिशा में मोड़ने का साधन रसना इन्द्रिय विषयक प्रतिसलीनता का तप मुख्य रूप से है और तब इस तप की सम्यक् प्रकार से आराधना का सकल्प बनना चाहिये।

जिह्वा के व्यापार और प्रतिसंलीनता तप

इस जिह्वा सम्बन्धी जितने भी व्यापार है, उनमे से कौन-कौन से व्यापार ग्राह्य और कौन-कौन से व्यापार त्याज्य है-इसका विज्ञान पहले किया जाना चाहिये। त्याज्य व्यापारो पर सयम और ग्राह्य व्यापारो का आराधन- फिर जीवन का क्रम बनना चाहिये। इस जिह्वा से अनोखी तप साधना साधी जा सकती है। यदि जिह्वा पर नियन्त्रण साध लिया जाय तो जीवन के अधिकाश विकारों को समाप्त किया जा सकता है। रसना इन्द्रिय के प्रति साधे जाने वाले प्रतिसलीनता तप का तात्पर्य यह होता है कि जिह्वा की स्वाद एव वचन शक्तियो को उनके दुरुपयोग से बचाना तथा उनके सदुपयोग के मार्ग खोलना। निरन्तर यह तप करने का अर्थ होगा कि स्वाद एव वचन शक्तियों के सदुपयोग के प्रति निरन्तर सतर्कता बरतना। यह तप इन शक्तियो के दुरुपयोग की भावना को ही नष्ट कर देता है तथा इनके सदुपयोग के क्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक बनाता रहता है।

वचनो के प्रवाह से मानवीय जीवन की बहुत बड़ी शक्ति बाहर प्रस्फुटित होती है। अन्य इन्द्रियों की स्थिति से अन्तर्भावना का स्त्रोत जितना वाहर प्रकट नहीं होता है, उतना वह वाचिक शक्ति के माध्यम से व्यक्त होता है। वचनो का प्रयोग करने में मानसिक शक्ति का वहुत वड़ा योगदान रहता है। वाणी की शक्ति के पीछे आत्मिक शक्ति का भी वल होता है। किस अर्थ का द्योतन करने वाला कोनसा शव्द किस रूप मे रखा जाए-विवेकशील व्यक्ति वचन निकालने

से पहले इस पर गम्भीरता से सोचता है और फिर उपयुक्त वचनो को बोलता है। वह देखता है कि उसके किसी बोल से किसी के मन में क्लेश-कटुता पैदा नही हो-किसी के कलेजे मे चुभन और पीड़न नहीं हो बल्कि उसका प्रत्येक शब्द समस्त प्राणियों के कुशल और क्षेम से भरापूरा हो। जिह्वा के व्यापार इसी दिशा मे सचालित होने चाहिये कि इसके शक्ति प्रवाह का सदुपयोग समग्र प्राणियों के कल्याण कार्य में हो। इस प्रकार का विज्ञान चैतन्य आत्मा अपनी समग्र स्थिति को बटोर कर रख सकती है।

जिह्वा के व्यापारों को एक सजग आत्मा भाव एव द्रव्यों-मनों के नियन्त्रण के साथ सही ढग से नियन्त्रित करती रहती है। इसी नियन्त्रण को सावधानी और विवेक के साचे मे ढाल कर स्थायी रूप देने वाला प्रतिसलीनता का तप होता है। जिन शब्दों को जिह्वा अभिव्यक्त करती है, उन शब्दों के प्रयोग मे तब एक जीवनी शक्ति का प्रभाव होता है। खाने और बोलने का क्रम बराबर चलता है याने कि जिह्वा की इन शक्तियो का व्यय तो बराबर होता रहता है किन्तु प्रतिसलीनता तप की शिक्षा यही है कि वह व्यय अपव्यय नही बने, बल्कि वह व्यय सद्-व्यय बन कर व्यक्तिगत एव सामाजिक जीवन को सदाशयता का उन्नतिशील वातावरण प्रदान करे। वायुमन्डल मे सर्वांगीण पवित्रता का प्रसार इस शक्ति प्रवाह का सुदृढ़ लक्ष्य बन जाना चाहिये।

वचन शक्ति के विकार और उसका विकास

जिह्वा की शक्ति तो वही है किन्तु उसका प्रयोग कटु और क्षुद्र शब्दों के उच्चारण मे भी हो सकता है और मृदु वाणी का उच्चारण भी इसी शक्ति से होता है। पहला वचन शक्ति का विकार है तो दूसरा उसका विकास। शक्ति का प्रवाह चल रहा है किन्तु सारा अन्तर प्रवाह के दिशा निर्देश का होता है। शक्ति का व्यय दोनों दिशाओं में होता है। जब कोई कटु शब्दों का प्रयोग करता है तो उन कटु शब्दो के चयन में भी वह अपने भाव मन और आत्मा की शक्ति को लगाता है। कुटिलतापूर्वक भीतर ही भीतर रागद्वेष को बढ़ा कर वह ऐसे शब्दों का प्रयोग करता है कि सामने वाले का कलेजा तीर की तरह बिध जाय। जहा तक प्रयोग में शक्ति-व्यय का प्रश्न है, वह दोनों दिशाओं में होता है। जब कोई किसी के प्रति कल्याणकारी शब्दों का प्रयोग करता है तब भी वह अपनी सहृदय अन्तर्शक्ति की सहायता से सुमधुर शब्दों का चयन करता है और अतीव स्नेह व सहानुभूति के साथ उनका उच्चारण करता है। शक्ति का व्यय अकल्याण के शब्दो मे भी होता है और कल्याण के शब्दों में भी, किन्तु इस व्यय का प्रभाव और परिणाम सर्वथा विपरीत होता है।

वचन शक्ति के विकार के रूप मे जब अकल्याणकारी वचनों का प्रयोग किया जाता है तो उसके पहले और बाद मे दोनों बार आत्मा कलुषपूर्ण वृत्तियों से काली बनती है तथा वह विकास अपने आपको तथा दूसरों को सबको दु खी बनाता है। दूसरी ओर वचन शक्ति का स्वस्थ विकास साधा जाय और शक्ति का व्यय कल्याणकारी वचनों के प्रयोग में किया जाय

तो आत्मा मे उस प्रयोग के पहले और बाद मे सद्वृत्तिया जागती है तथा अनोखे आत्मानन्द की अनुभूति होती है। यही शक्ति के विकार और विकास का अन्तर है।

इसलिये वचन शक्ति के विकास की दृष्टि से इन्द्रिय-प्रतिसलीनता तप के अनुसार वाणी को सदाशय, मधुर एव हितावह बनाने की आवश्यकता है। वाचिक शक्ति पर सयम रहना चाहिये इस विवेक के साथ कि आवश्यकता के अनुसार कितने और कैसे शब्दो का प्रयोग करे तथा आवश्यकता नहीं हो तो इस शक्ति का अपव्यय नहीं करे। एक व्यक्ति पॉवर हाऊस से बिजली लेता है तब उसके उचित व्यय का पूरा ध्यान रखता है-बिना प्रयोजन के उस बिजली को खर्च नहीं करता है। वह आवश्यकता होने पर ही बिजली का बटन दबाता और बल्ब जलाता है। इसी प्रकार जीवन-शक्तिया रूपी विद्युत्-व्यय के सम्बन्ध मे भी पूरी सावधानी की आवश्यकता होती है। वचनो का आवश्यकता के अनुसार ही प्रयोग करना चाहिये। उन वचनो मे घृणा और राग-द्वेष के शब्द नहीं हो, कर्कश और अहितकारी उच्चारण नहीं फूटे तथा मर्मभेदन एव सघर्ष का प्रसग उपस्थित नहीं होवे। इस सावधानी के साथ अगर जिह्वा के शक्ति-प्रवाह का प्रयोग किया जाय तो उसके विकार नष्ट होगे तथा उसका निरन्तर विकास होगा।

जिह्वा के सदुपयोग का मार्ग

प्रतिसलीनता तप का आराधन जिह्वा के सदुपयोग का मार्ग होता है। जो भाई और बहिने इस तप के रहस्य को नहीं समझते हैं, वे अपनी जिह्वा-शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। थोड़ी सी स्वार्थ भावना के वशीभूत होकर वे कभी-कभी ऐसे शब्दो का प्रयोग कर बैठते हैं जिनके कारण सुनने वाले व्यक्ति मे अधिकतर कुसस्कारो की जड़े जमती है। मै कभी-कभी सुनता हू कि कई स्थलो की माताए छोटे-छोटे नन्हे बच्चो को अपनी इच्छानुसार कार्य कराने के लिये अपनी इस जीभ से गलत-गलत बाते बताती रहती है। बच्चो की नटखट अवस्था से घबरा कर वे उन्हे भयभीत करने की चेष्टा करती है और कहती हैं-वह हौवा आ गया- वह भूत आ गया। वे माताओ से वैसा विश्वास ग्रहण कर लेते है और ऐसे कुसस्कारो के जम जाने से वे जिन्दगी भर के लिये कायर और डरपोक बन जाते हैं।

एक नन्हा बच्चा अपनी माता के वचनो से न जाने कितना ग्रहण करता है और ऐसी अवस्था मे यदि माता अपनी जिह्वा शक्ति के सदुपयोग के सम्बन्ध मे सावधानी नहीं बरतती है तो बच्चे के पूरे जीवन का कितना बड़ा अहित हो सकता है-यह सोचने की बात है। असस्कारी माताए बच्चो के मन मे जो एक बार भय का भूत जगा देती है, वह भ्रम कई बार जीवन पर्यन्त तक नहीं निकलता है। वृद्धावस्था मे भी उसे काल्पनिक भय सताता रहता है। हालाकि भूत न तो माता ने देखा और न बच्चे ने देखा, लेकिन जिह्वा द्वारा वचनो के दुरुपयोग से निकले हुए शब्द बच्चे के सस्कारो मे जम कर एक स्थायी दुर्गुण की रचना कर देते है। इस प्रकार बहुमूल्य जीवन को जिह्वा के दुरुपयोग से ससार की विकार दशा मे फसा कर नष्ट कर दिया जाता है। यदि वही

माता प्रतिसलीनता के तप का आराधन करने वाली हो तो वह पूरे विवेक के साथ जिह्वा-शक्ति का प्रयोग करती है-प्रत्येक शब्द को उसका आगा-पीछा सोच कर निकालती है। यदि अपने बच्चों को निडर और चारित्र्यशील बनाना है तो माताओं को इस तप की महत्ता समझनी होगी तथा अपनी वचन शक्ति पर समुचित नियन्त्रण लगाना होगा, क्योकि ऐसा किये बिना निर्भयता के गुण का विकास नहीं किया जा सकेगा।

जिह्वा शक्ति के सदुपयोग के लिये अपने मन पर भी नियन्त्रण रखना पड़ेगा, क्योंकि जब कभी यह जिह्वा बेकाबू होने लगे तो मन उस पर नियन्त्रण रखेगा। माताए जब मन और वचन पर काबू नहीं रख पाती हैं तभी वे अपने बचो तक को गालियो की बौछारों से घायल करती रहती हैं। मालवे वगैरा में लाकड्चा पड़चा या खोज गया जैसी गालिया माताए अपने बचो को देती हैं तो क्या यह घोर असस्कारिता और जिह्वा शक्ति का भयकर दुरुपयोग नहीं है? एक बार का प्रसग है, एक बहिन ने अपने बच्चे को डरा दिया कि वह नहीं मानेगा तो उसे भूत पकड़ लेगा। बच्चे ने शरारत तो बन्द कर दी, मगर डरा-डरा सा रहने लगा। एक दिन उसके पिता ने अन्दर के कमरे से कोई चीज लाने को बच्चे की कहा तो उसने लाने से मना कर दिया कि वहा तो भूत हैं। पिता का ज्ञान गम्भीर था। उन्होने भय के इस कुसस्कार का पता लगाया तो अपने स्त्री को बुरा-भला कहा किन्तु वे जानते थे कि बच्चे के मन मे पिता की अपेक्षा माता का विश्वास अधिक होता है- इस कारण बच्चे के भय को युक्ति की सहायता से ही निकालना पड़ेगा। पिता ने बचे को कहा कि तुम्हारी माता ने भूत तो बताया लेकिन भूत को पकड़ने का मन्त्र नहीं बताया-मैं तुझे वह मत्र बताता हू। इसे बोल कर कहीं भी चले जाना कभी भी भूत दिखाई नहीं देगा। बच्चे में अविश्वास नहीं पैदा किया गया तो उसने अपने पिता के वचन पर भी विश्वास कर लिया। वह मत्र बोल कर कहीं भी चला जाता-भूत तो नहीं दिखाई देना था सो दीखने की स्थिति पैदा होती ही नहीं। इस तरह जिह्वा के दुरुपयोग और सदुपयोग का रूपक आप माता और पिता के वचनों से भलीभाति समझ सकते हैं।

जिह्वा-तप मे विवेक का स्थान

जिह्वा के प्रति किये जाने वाले प्रतिसलीनता के तप मे विवेक का अमुख स्थान होता है। विवेक होगा तो जिह्वा की शक्ति का अधिक से अधिक सदुपयोग हो सकेगा और विवेक के अभाव में दुरुपयोग ही दुरुपयोग है। माताए विवेक नहीं रख कर जिह्वा का जो दुरुपयोग करती हैं, उससे बचो के सस्कार तो वे बिगाड़ती ही हैं किन्तु स्वय भी अपने लिये कर्मो का बन्धन करती हैं। ऊपर की कहानी मे आपने देखा कि पिता ने अपने वचन प्रयोग में विवेक को सर्वोपरि स्थान दिया तो तरकीब से उन्होंने बच्चे के भय भरे कुसस्कार को मिटा दिया। रसना इन्द्रिय की कुपथगामिता को रोकने के लिये आपको प्रतिसलीनता के तप का नियमित रूप से अभ्यास करना चाहिये ताकि इन्द्रियदमन की शक्ति का पूर्णतया विकास हो सके।

माताओं और बहिनों को बड़ी-बड़ी अनशन तपस्याए करने का बड़ा चाव रहता है और इसके लिये मैं उनका धन्यवाद करता हू, परन्तु मैं उनको यह विवेक दिलाना चाहता हू कि

वे केवल अनशन को ही तप न समझे तथा अन्य प्रकार के तपाराधन मे भी वे अपने आपको लगावे और खास तौर से इस प्रतिसलीनता के तप द्वारा जिह्वा की स्वाद एव वचन शक्ति पर अपना नियन्त्रण कायम करे। यह सोचने की बात है कि हमारी जिह्वा व्यर्थ नहीं होती है- इसको हमेशा सम्हालने की जरूरत है। स्वाद के लिये लोलुपता नहीं रखनी, कटु एव निरर्थक शब्दो का प्रयोग नही करना तथा जिह्वा को पवित्रता के साथ रखना जीवन का सतर्क लक्ष्य बन जाना चाहिये।

प्रतिसलीनता के तप और विवेक के साथ यदि जिह्वा की दोनो प्रकार की शक्तियो पर नियन्त्रण रखने का अभ्यास किया जाय तो आन्तरिक विकास तो श्रेष्ठ बनेगा ही किन्तु सामाजिक, पारिवारिक एव व्यक्तिगत जीवन मे भी कलह, विवाद एव उपद्रव की प्रवृत्तिया समाप्त होकर सौहार्द्र, सामजस्य एव समन्वय की मधुर भावना का विस्तार हो सकेगा। व्यर्थ ही कलह -क्लेश और लड़ाई- झगड़ों द्वारा जो कर्म-बन्धन का खाता खुला रहता है, वह इस तप की साधना द्वारा बन्द किया जा सकता है। आप कभी विचार करेगे तो स्पष्ट होगा कि अधिकाश लड़ाई-झगड़े इस तप के अभाव मे होते है। लेन-देन के मामलो में भी झगड़ा होता है तो वह झगड़ा खास तौर से वचन-बाणों के प्रयोग के साथ मूछे तन जाने के कारण ज्यादा बढ़ता है। इसने मुझे यह कह दिया और वह कह दिया-यही प्रतिशोध की भावना सारे वातावरण को गदला बनाती रहती है। मर्मकारी शब्दो का प्रयोग तो बदले की भावना को इतना उग्र बना देता है कि मनुष्य निकृष्ट अपराध करने के लिये भी तैयार हो जाता है और यदि कभी ऐसे मर्मकारी शब्दो के विरुद्ध सामूहिक प्रतिक्रिया पैदा हो जाय तो दगे-फिसाद व खून-खराबा हो जाता है। शब्दो का जहर कितना गहरा जाता है और कितनी गम्भीर उत्तेजना फैला देता है-साधारण रूप से इसका अनुमान लगा पाना भी कठिन काम है। इसी कारण जिह्वा के नियन्त्रण के लिये प्रतिसलीनता के तप की जो आराधना की जाती है, उसमे विवेक की पर्याप्त मात्रा रहनी चाहिये तथा एक-एक शब्द को पहले तोल कर फिर बोलने की आदत बनानी चाहिये।

इस जिह्वा पर कन्ट्रोल रखे

चाहे खाने के स्वाद की वात हो या किसी के साथ कुछ बोलने की-सदा इस जिह्वा पर कन्ट्रोल बनाये रखने का यत्न होना चाहिये। जहा इस पर कन्ट्रोल नहीं है, वहा जीवन शक्ति का निरन्तर दुरुपयोग होता रहता है। इस तप के अभाव मे मानव अपनी आत्मा को निरन्तर दुर्गति की ओर ले जाता है। इसके साथ ही उसका प्रणिधान भी अशुद्ध हो जाता है जिस कारण उसके आत्म-विकास की दिशा सदा धूमिल वनी रहती है।

तपाराधन पर यदि गम्भीरतापूर्वक चिन्तन किया जाय एव अपनी क्षमता तथा योग्यता के अनुसार अपने वर्तमान जीवन की दृष्टि से विशेष रूप से आवश्यक तप के प्रकार पर आचरण किया जाय तो इस आत्मा को पतित वनाने वाले विकारो को नष्ट किया जा सकता

है तथा विकास के मार्ग को निष्कटक बनाया जा सकता है। आप यदि इस जिह्वा पर ही

कन्ट्रोल रखने का अभ्यास बनालें तो समझिये कि आप अपने समूचे जीवन पर नियन्त्रण रख सकने की क्षमता का निर्माण कर लेंगे।

उपदेशों को जीवन मे उतारें

आपको सन्त लोगों के उपदेश श्रवण करने का अवसर मिलता रहता है, किन्तु यदि उन्हे अपने जीवन में आप नहीं उतारे तो फिर उस श्रवण की क्या सार्थकता है? शास्त्रों की बातें सुनते हुए भी आप परतन्त्र क्यो बने हुए हैं? इन्द्रियो की परतन्त्रता को दूर करने तथा आत्म-शक्तियो को स्वतन्त्र बनाने के लिये कम से कम अपने सभी रूपो में इस प्रतिसलीनता के तप का आराधन अवश्य आरम्भ कर दें। आत्मा के अधीन इन्द्रिया होनी चाहिये, लेकिन यह स्वाधीनता आत्मा को तपाराधन से ही प्राप्त हो सकती है क्योंकि भोगप्रधान जीवन होने के कारण आत्मा इन्द्रियो के ही अधीन बनी रहती है।

इस तप की आराधना जितनी एकाग्रतापूर्वक की जायगी, उतना ही आपका जीवन प्रामाणिक निर्मल और मधुर बनेगा। तब आप अपने शत्रु को भी गलत राय नहीं देगे बल्कि किसी के लिये भी अहितकारी कल्पना तक नहीं करेगे। वचन के तप की दृष्टि से मौन व्रत का भी बहुत बड़ा महत्व होता है, किन्तु इस मौन व्रत में भी कल्याण कामना प्रधान रहनी चाहिये। जिसके जीवन मे तप का ताप पहुचता हैं, उसके कर्मों की निर्जरा होकर आत्म-शुद्धि का प्रसग बनता है। अनशन तप की पचरगियों के साथ अन्य तपो की पचरगिया भी करना सीख लें तो मन व आत्मा तपेंगे तथा उनका स्वरूप उज्ज्वलता से प्रकाशित होगा।

गगाशहर-भीनासर

दि० ३०-११-७३

18

शरीर और मन पर निग्रह

* आत्मा को सक्षमता प्रदान करने के लिये इन्द्रियों और मन पर निग्रह करना जरूरी है ।
* तप की आराधना का मूल है इन्द्रियों और मन को वश में करना ।
* तपाराधना के साथ ज्ञानीजनों का सम्पर्क व शास्त्रीय वाणी का योग मिले तो साधना को सफल बनाकर इन्द्रियों और मन की निग्रह-शक्ति को सुव्यवस्थित व सुदृढ बनाते है ।
* शरीर और मन पर काबू पाने के लिये प्रतिसलीनता तप कर आराधना सम्यक्-ज्ञान, श्रद्धा और क्रिया के साथ करना जरूरी है ।
* शरीर और मन की स्वाधीनता ज्यों-ज्यों पुष्ट होती जाती है, आत्म-शान्ति की अनुभूति भी प्रगाढ बनती जाती है।

सर्व-त्याग की साधना

शान्ति जिन एक मुझ विनती

परमात्मा के चरणों मैं प्रार्थना की पक्तियो के माध्यम से भव्य आत्मा का जो आर्तनाद प्रस्फुटित होता है, उस आर्तनाद में आन्तरिक स्वरूप को लिये हुए विवेक विज्ञान की शक्ति ही जिह्वा के जरिये बाहर प्रकट होती है। वह आत्मा जिस शक्ति के साथ प्रार्थना का उच्चारण करती है, उसे वह स्वय को भी सुनाती है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों की शक्ति से बाहर तो बहुत कुछ देखता रहता है, किन्तु स्वय के भीतर देखने की क्षमता इस शक्ति मे नहीं होती है। वैसी शक्ति तो भीतर ही होती है-वह स्वय आत्मा की शक्ति होती है। जब तक आत्मिक शक्ति कुठित बनी रहती है-अपूर्णता की अवस्था में होती है, मनुष्य के जीवन में पूर्ण आत्मिक-जागृति का प्रसग नहीं आता है।

मानव यदि बाहर की स्थिति को देखने के साथ-साथ आन्तरिक स्थिति को भी देखने का प्रयास करे तो उसकी दृष्टि अन्तर्मुखी बन सकती है। जिसने अपने अन्त करण में झाक लिया है-अपनी मूल शक्ति को पहिचान लिया है और अपने आत्म-स्वरूप मे रमण करना सीख लिया है, वह मानव अपने इस मानव-तन में रहते हुए भी दिव्य-शक्ति का स्वामी बन जाता है। मानव का मन जितना बाहर दौड़ता है, उससे उसकी आत्मा इधर से उधर लुढ़कती रहती है। बाहरी पदार्थों को देखते-देखते और उनमें प्रलुब्ध बनते हुए मानव अपने भीतर की चेतना को भूलता जाता है और इस आत्म-विस्मृति से अशान्ति की जड़ें हरी होने लगती हैं। जब मानव पूर्ण शान्ति को प्राप्त करने के लक्ष्य का निर्धारण करना चाहता है तो उसे अशान्ति की जड़ो को शुष्क बनाने का यत्न करना चाहिये। जिस तरह के सिचन से अशान्ति की जड़े हरी बनती हैं, उस तरह के सिचन को इसके लिये रोकने की जरूरत होती है। सिचन की दिशा और सिचन का क्षेत्र बदल देना पड़ता है।

शक्तियों के सिचन की दिशा

आत्म-शक्तियों का सिचन तो चलता ही रहता है। जब वे शक्तिया भोग्य पदार्थों को सींचती हैं-अपनी शक्ति उन्हें प्राप्त करने में लगाती हैं तो उनके सिचन की दिशा भोग प्रधान बन जाती है। उस सिचन का क्षेत्र यह ससार होता है। आत्मिक दृष्टि से इसे हम शक्तियों का अपव्यय कहते हैं क्योकि मूलत ये शक्तिया आत्मा का स्वरूप निखारने में नियोजित की जानी चाहिये। इन शक्तियो के सिचन की दिशा आत्म-विकास की दिशा हो तथा इस सिचन का क्षेत्र आत्मिक धरातल-तभी इन शक्तियों का सिंचन सार्थक कहलाता है। इस कारण इन

शक्तियो की क्रियाशीलता को ससार के क्षेत्र से हटा कर आत्मा के धरातल पर लगाने की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही शक्तियो के सिचन को सम्यक् ज्ञान का पुट दिया जाना चाहिये।

किसी भी फसल को पकाने के लिये केवल सिचन से ही काम नहीं चलता, उसी प्रकार आत्म-विकास की पकी हुई फसल लेने के लिये भी भूमि चाहिये, खाद चाहिये और सिचन भी चाहिये। आत्मिक फसल के लिये सम्यक् ज्ञान का सिचन, सम्यक्-श्रद्धा की भूमि तथा सम्यक्-चारित्र्य का खाद अपेक्षित होता है। सची-श्रद्धा को जमीन पर चरित्र की खाद बिछा दी जाय और उसमे आत्म-विकास का बीज वपन करके ज्ञान के पानी का सिचन किया जाय तो वहा परम शान्ति के कल्पवृक्ष का अकुर विकसित हो सकता है। चारित्र्य साधना में पहले से बढा हुआ अशान्ति का विष वृक्ष स्वत ही सूखकर नष्ट हो जाता है। इस पौधे के नष्ट होने का नाम ही कर्मों की निर्जरा है। कर्मो की निर्जरा करने से ही आत्मा इस अशान्ति के धरातल पर से हट सकती है। एक तो स्वत हटे और एक हटाया जावे-कर्मो की दृष्टि से इसमें भी अन्तर पड़ता है। हटाये जाने मे कोई अपने अवरोधो को अपने पुरुषार्थ से हटाता है -अपने पिछड़े सस्कारो को हरा कर आगे बढता है। एक तरह से वह अपनी नींव जमा कर जाता है और पिछले स्थान को छोड़ कर विवेकपूर्वक अग्रसर बनता है। किन्तु जो स्वय हटता है, वह अपना स्थान पूरी तरह से छोड़ नहीं पाता है। वह अपने आप मे सहसा नष्ट नहीं होता है। इस आत्मा के साथ लगे हुए कर्मों का भी यही हाल होता है।

कर्मों की निर्जरा की स्थिति

कर्म शुद्ध आत्मा के साथ चिपके नहीं रहते। जब से आत्मा के कर्म चिपके है, वे अपना स्वभाव और अपनी अवधि लेकर चिपकते है। ये कर्म अशान्तिदायक स्वभाव के भी होते हैं तो शान्तिदायक स्वभाव के भी तथा पुण्यानुबन्धी कर्म भी होते हैं तो पापानुबन्धी कर्म भी होते हैं। इन सभी कर्मों का बन्धन जो होता है, उसकी अवधि होती है। एक तो ये कर्म अपनी अवधि समाप्त करके जाते है, तब उदय मे आकर अपना फल चुका देते है। अशुभ कर्म जब उदय मे आते है तो उस आत्मा को अशान्ति का अनुभव होता है। वह हाय विलाप करने लगती है। इस हाय विलाप मे नये अशान्तिदायक कर्मों की सन्तान जन्म ले लेती है, जिसके कारण अशान्ति की स्थिति आत्मा के साथ बन्ध जाती है। अवधि समाप्त होने से वे पहले के कर्म तो चले जाते हैं, किन्तु वैसे ही नये कर्मों का बन्ध हो जाने से अवस्था मे परिवर्तन नहीं आता है। वे कर्म फिर उदय मे आते है, फिर आत्मा हाय विलाप करती है, फिर नये कर्मों का बन्ध होता है और इस प्रकार यह सिलसिला चलता रहता है जिससे आत्मिक उन्नति के अवसर उस अवस्था मे प्रबल नहीं बन पाते। यह सिलसिला जो कर्मो का चलता है तो इसमे कर्मो के हटने को निर्जरा की सज्ञा तो दी जाती है, लेकिन वह अकाम निर्जरा होती है। इसमे आत्मा कर्मो को हटाने का पुरुषार्थ नहीं करती, बल्कि वे कर्म अवधि समाप्त हो जाने के कारण

स्वय हटते हैं। इस हटने के सिलसिले में नये कर्म-बन्ध के साथ वास्तव मे कर्मो का हटना नहीं होता है। कई बार तो बन्धन अधिक गाढ़ा हो जाता है। अशान्ति के कारण हटते तो स्वल्प मात्रा में हैं तथा सग्रहित अत्यधिक मात्रा मे हो जाते है।

इसलिये ज्ञानी जन कहते हैं कि मोक्ष मार्ग मे इस अकाम निर्जरा को कोई स्थान नहीं है। इस अकाम निर्जरा के समय मे सद्भाग्य से यदि उसे शुभ परिणाम आ जावें तो पुण्य का बन्ध भी हो सकता है। किन्तु शुभ परिणामो का आना कठिन ही होता है क्योकि अज्ञान अवस्था में फलोदय के समय आर्त एव रौद्र ध्यान की ही प्रबलता रहती है जिससे कर्मो की निर्जरा होते हुए भी अशुभ परिणामों का ही दौर-दौर रहता हैं। ये अशुभ परिणाम नये पाप कर्मो का वन्ध करा देते हैं। इसलिये अकाम निर्जरा का महत्व नहीं माना गया है।

किन्तु उस निर्जरा का विशिष्ट महत्व होता है, जहा पहले अशान्तिदायक कर्मो के स्वभाव को समझा जावे और फिर अन्तर्शक्ति के माध्यम से एव सम्यक् ज्ञान, दर्शन एव चारित्र्य की सहायता से उन कर्मो की जड़ों को कुरेद कर बाहर निकाल कर पूर्णत नष्ट की जावे याने कि सची श्रद्धा के धरातल पर आने वाले अशान्तिदायक कर्मो को चेतन्य-शक्ति अपनी जाग्रत-चेतना के साथ उठा कर बाहर धकेल दे। यह पुरुषार्थ कर्मो के बन्धन की प्रारम्भिक अवस्था में ही कर दिया जाय जबकि वे न तो पल्लवित हुए हों तथा न विशेष आत्म-क्षति करने का उनका सामर्थ्य बढ़ा हो। प्रारम्भिक अवस्था में ही इन कर्मो की जड़ो को काट कर नष्ट कर देना ही आत्मा का सचा पुरुषार्थ कहलाता है तथा ऐसी ही निर्जरा सार्थक निर्जरा होती है। यही सकाम निर्जरा कहलाती है। सकाम निर्जरा में इरादे से हटा जाता है और यह प्रक्रिया आत्मा की शुद्ध स्थिति में ही सम्भव होती है। सकाम निर्जरा आत्मा की जाग्रति की भी प्रतीक होती है क्योंकि आत्मा अपने पुरुषार्थ से उस समय उन कर्मो को नष्ट कर देती है जिस समय वे अपनी चिकनाई की शुरू की स्थिति में ही होते हैं। जिस पौधे की जड़ें लगनी शुरू हो-उसी समय यदि उन जड़ों को काट दी जाय तो वह आसान भी होता है तथा जड़ों की पूरी सफाई भी हो जाती है। इस क्रिया से आत्मोन्नति का विवेकपूर्वक धरातल पुष्ट होता है।

अशान्ति का जड-मूल से विनाश

सकाम निर्जरा की प्रक्रिया से अशान्ति का जड़ मूल से विनाश हो जाता हे क्योकि कर्मो को उनकी प्रारम्भिक अवस्था में स्वय के पुरुषार्थ एव स्वय के विवेक से नष्ट किया जाता है, जिस कारण वहा नये कर्मो के बन्ध का प्रसग नहीं रहता है। पूराने कर्म जव सकाम निर्जरा की पक्रिया में नष्ट होते रहते हैं और नये कर्मो का बन्ध नहीं होता है तो स्वभावत आत्मा का मल हट कर उसका स्वरूप निखरता जाता है अशान्ति हट कर शान्ति का सचार होता है। इसलिये सकाम निर्जरा की शक्ति यही है कि जिसमें कर्मबन्धन बिल्कुल स्वल्प हो या नहीं के वरावर हो और पुराने कर्म ज्यादा से ज्यादा झड़ते जावें। सकाम निर्जरा की सम्भावना आत्मिक-शक्तियों के जाग्रत होने पर ही बनती है क्योकि इन शक्तियों के सिचन को वर्तमान

विकृत दिशा से हटा कर सकाम निर्जरा की दिशा मे जुटाना पड़ता है। इसके लिये चारित्र्य रूपी खाद की जरूरत पड़ती है। चरित्र साधना की सहायता से पुराने जमे हुए कर्मों को ढीला बनाया जा सकता है तो ढीले पड़े कर्मों को उखाड़-उखाड़ कर बाहर फैका जा सकता है। इससे कर्मों की बीज शक्ति भी पुण्य के रूप मे बदली जा सकती है। जो कर्म अशान्ति का बाना पहिन कर आये थे, वे शान्ति के कारण बन कर हटते है।

यह अन्तर्सृष्टि का कुछ कथन मैने किया है। किन्तु इस अन्तर्सृष्टि को भीतर तक ही सीमित नहीं समझे। यह भीतर की सृष्टि जब बाहर प्रकट होती है तभी किसी व्यक्ति का दिव्य व्यक्तित्व दूसरो पर प्रकाशित होता है। अन्तर और बाह्य एक दृष्टि से एक दूसरे के पूरक होते हैं। आन्तरिक अवस्था जब परिपक्व बनती है तभी वह बाहर झलकती है और इसी तरह बाहर के वातावरण का भी आन्तरिक सस्कार निर्माण की दृष्टि से प्रभाव पड़ता है। ये शरीर की बाहरी अवस्थाए जो दिखाई देती है, इनके पीछे भी कुछ चक्रव्यूह सा लगा हुआ है। इस चक्रव्यूह को मन एव इन्द्रियो का विषय-जावल समझ लीजिये। आत्मा बेभान बन कर जब तक इस चक्रव्यूह मे उलझती रहती है, वह न तो बाहर निकल सकती है और न उसे भेद सकती है। अपनी बेभानी को छोड़कर जब आत्मा प्रतिसलीनता के तप का आराधन शुरू कर देती है तो वह एक-एक इन्द्रिय को काबू मे करती हुई मन को काबू मे करती है और इस प्रकार इन्द्रियो तथा मन के निग्रह पर पूर्णता प्राप्त करती है। तपाराधन में शरीर, मन और आत्मा-सभी सक्रिय बनते हैं। पहले इन्द्रिया और मन, जो भोग के क्षेत्र मे भटकते हुए अशान्ति की जड़ो को हरी बनाते रहते थे वे ही प्रतिसलीनता के तप के माध्यम से अपनी सक्रियता की दिशा को बदल कर तप और त्याग मे लगते हैं तो अशान्ति की जड़ो को सुखाते हुए शान्ति के सदा बहार वृक्ष का बीजारोपण करते है। शान्ति का यह कल्पतरु आत्मा के सभी मनोरथों की पूर्ति करने वाला होता है।

शरीर-रचना का विज्ञान

प्रतिसलीनता के तप के सन्दर्भ मे पहले की चार इन्द्रियो के तप के विषय मे विचार करने के बाद अब स्पर्शेन्द्रिय के तप के सम्बन्ध मे यहा विचार कर रहे हैं। स्पर्शेन्द्रिय-प्रतिसलीनता नाम का तप क्या और कैसा होगा? स्पर्शेन्द्रिय नाम है त्वचा का। इस पर विस्तार से कहे-इसके बीच प्रासगिक होने से यह सत्य मै आपको कहना चाहता हू कि आधुनिक विज्ञान की स्थिति से शरीर रचना के सम्बन्ध मे जो कुछ कथन आ रहा है, उसे यदि आध्यात्मिक शरीर वर्णन की दृष्टि से तुलनात्मक रूप मे देखे तो प्रतीत होगा कि आधुनिक विज्ञान जगत् मे डॉ० खुराना का जीन तक का अनुसन्धान अभी तक अधूरा ही है। यह कहा जा सकता है कि अभी तक बुद्धि का जो विकास हुआ है, वह भी शास्त्रीय कथनो की तुलना मे अधूरा ही है। शास्त्रीय धरातल पर शरीर विज्ञान का जो प्रसग आया है, उसके अनुसार प्रारम्भ मे दो तत्त्वो की आवश्यकता महसूस की गई है। एक विज्ञानवान् इन्जीनियर हो और उसके लिये

अपने अवस्थान का निर्माण करने की साधन सामग्री हो। इन्जीनियर चैतन्य-शक्ति को समझिये जो एक जीवन समाप्त होने पर उस जर्जर शरीर को छोड देती हे तथा नवीन जागरण में आती है। नवीन शरीर को धारण करने की क्षमता वह अपने पास सम्पादित करके जिस योनि में पहुचती है, उस योनि मे तदनुकूल शरीर निर्माण करने की साधन सामग्री उसको उपलब्ध हो जाती है। प्राय यही अवस्था मानव शरीर में रहने वाली आत्मा के साथ भी लागू होती है।

मानव जीवन की स्थिति के दृष्टिकोण के अनुसार वह आत्मा जन्म के प्रारम्भिक क्षणो मे रसप्रद द्रव्यो को ग्रहण करके एक अन्य शक्ति को भी पैदा करती है। वह शक्ति चैतन्ययुक्त भौतिक शक्ति होती है। इस पर भी उसको चेतन्य प्रधान होने की दृष्टि से चेतन्य शक्ति कह सकते हैं। शास्त्रों में आये शरीर-रचना के विज्ञान के प्रसग मे इसको आहार पर्याप्ति कहते हैं। आहार पर्याप्ति उस अवस्था का नाम है, जब माता के गर्भ मे वह दीर्घ आयुष्य वाली आत्मा वहा के पदार्थो को ग्रहण करके एक रासायनिक प्रक्रिया के माध्यम से छटनी करती है-खल भाग अलग और रस भाग अलग। इस विभक्तिकरण को आहार पर्याप्ति की सज्ञा दी गई है। उसके बाद शरीर-पर्याप्ति का क्रम है। यह शरीर का आकार नाक-नक्श के रूप मे तैयार करती है। इसी के द्वारा यथास्थान सभी इन्द्रियों तथा मन का निर्माण होता है। एक व्यक्ति जेसे किसी मकान का निर्माण कराना चाहता हो तो पहले वह नक्शा बना कर उस पर विभिन्न कमरे, खिड़किया, दरवाजे मजिलें आदि अकित कर देता है। वैसे ही यह भीतर का चैतन्य इन्जीनियर इस शरीर के समस्त अवयवो का पहले नक्शा बना लेता है। इस नक्शे का ही नाम शरीर पर्याप्ति ह। पाचो इन्द्रियो आदि का यह नक्शा अन्तर्मुहुर्त मे तैयार हो जाता है। इसके वाद उनके विकास का प्रसग बनता है। इनमें यह त्वचा जो स्पर्शेन्द्रिय कहलाती है- इसका निर्माण सबसे पहले होता है। इसका कारण यह हे कि इसी त्वचा की छाया या रूपरेखा मे अन्य चारों इन्द्रियों का निर्माण होता है। यदि यह त्वचा रूप इन्द्रिय नहीं हो तो सारे शरीर और अन्य इन्द्रियो की कैसी जुगुप्सा भरी दुर्दशा दृष्टिगत होगी? कभी कोई अज्ञानवश अपने शरीर पर घासलेट डाल कर आत्म-हत्या के निमित्त से आग लगा लेता हे और उस शरीर पर से त्वचा हट जाने के बाद उसकी केसी दयनीय दुर्दशा देखने में आती हे? कहने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्मिक दृष्टि से शास्त्रो में शरीर रचना का जो विज्ञान वताया गया है, उसके अनुसार भी शरीर के लिये त्वचा का वहुत अधिक महत्त्व होता है। त्वचा सारे शरीर के समस्त भीतर-वाहर के अवयवों की रक्षा करती है आर शरीर को स्वरूपवान् दिखाती है। इस रूप मे त्वचा को शरीर की सरक्षक ढाल कह सकते हें।

इन्द्रियो और मन के निग्रह का तप

स्पर्शेन्द्रिय या त्वचा सारे शरीर का मुख्य आधार होती है और विशेष रूप से इस त्वचा याने चमड़ी की सवेदना से ही अन्य चारो इन्द्रियों को अपने अपने विषयो का ग्रहण करने की उत्तेजना प्राप्त होती है। शरीर के वाहर दिखाई देने वाले प्रत्येक हिस्से पर त्वचा होती ह और

इसीलिये इस त्वचा का स्पर्श कहीं भी अनुभव किया जा सकता है। अपने स्पर्श प्रधान गुण के कारण ही त्वचा को स्पर्शेन्द्रिय का नाम दिया गया है। स्पर्शेन्द्रिय का स्पर्श चाहे शरीर के किसी भी भाग पर होता हो याने कि चाहे पैरो मे काटा ही चुभ गया हो, परन्तु उसका सवेदन अन्य चारो इन्द्रियो और मन को होता है। और यही सवेदन इनके माध्यम से आत्मा को होता है।

शरीर रचना के विज्ञान की यह स्थिति वैज्ञानिको के लिये भी इसलिये अध्ययन की वस्तु-विषय बननी चाहिये कि वे अपनी अपूर्ण खोजो को पूर्ण बनाने के लिये इसका आश्रय ले सके। आहार और शरीर पर्याप्तियो के बाद शरीर का विकास प्रारम्भ होता है जिसके साथ इस त्वचा का भी विकास होता है। इसी विकास मे अमुक स्तर तक पहुचने के बाद श्वास और प्रश्वास की प्रक्रिया का भी विकास होने लगता है। इसके बाद वाचिक शक्ति का भी विकास होता है, जिसे एक पर्याप्ति मानी गई है। इन्द्रिय निर्माण के पश्चात् चिन्तन करने वाले मन का निर्माण होता है। ये छ पर्याप्तिया शरीर निर्माण की पूर्णता के रूप मे बताई गई है।

अब प्रतिसलीनता का जो तप है, वह इन इन्द्रियो और मन का इस रूप मे निग्रह करने से सम्बन्ध रखता है कि दे विकारपूर्ण भोगों मे फसने से रोके जाय तथा आत्म-विकास हेतु किये जाने वाले तप-त्याग मे नियोजित किये जाय। इन इन्द्रियो और मन को इस रूप मे सम्भाल कर रखेगे तो आत्मा को मलिनता से बचा सकेगे। परन्तु इस स्पर्शेन्द्रिय सम्बन्धी जो आत्मा को मलिन बनाने वाली वृत्ति है, उस पर अकुश लगाना और भी अधिक आवश्यक है। कहीं यह नहीं समझले कि शरीर को कपड़ो से ढक दिया तो उस पर अकुश लग गया, क्योकि यह इन्द्रिय हर समय किसी न किसी प्रकार स्पर्श का अनुभव करती रहती है। इन्द्रियो के अनुभव मे मन भी सयुक्त रहता है किन्तु उसका स्थान इन्द्रियो से पृथक् रखा गया है। पाचो इन्द्रिया अलग तौर से गिनाई गई हैं। आखें और कान दो दो है और नासिका के छिद्र भी दो हैं, लेकिन उनका विषय एक-एक ही है। जिह्वा और त्वचा भी एक-एक ही कहलाती है, परन्तु इनका विषय-क्षेत्र विस्तृत होता है। इन सबके भीतर सयोग मे रहने वाला और पाचो इन्द्रियों के साथ समभाव से व्यवहार करने वाला एक तत्त्व (इनमेटर) है, वही मन कहलाता है। इसी कारण इसको अतीन्द्रिय भी कहते है। यह मन द्रव्य मन कहलाता है। इससे भी अधिक सूक्ष्म भाव मन होता है।

तपाराधन का मूल लक्ष्य ही यह होता है कि पाचो इन्द्रियो पर काबू पाकर आत्मा मन की गति को भी अपने काबू मे ले। प्रतिसलीनता का तप विशेष रूप से आत्मा को इस प्रकार की सक्षमता प्रदान करता है। इसे इन्द्रियो और मन के निग्रह का तप कह सकते है।

सयम का मूल-स्पर्शेन्द्रिय निग्रह

समस्त इन्द्रियों और मन के निग्रह का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह मे रहा हुआ है। प्रतिसलीनता के तप का अन्तिम लक्ष्य होता है कि मन की अशुद्ध गति का अवरोध कर लिया जाय, क्योकि सारी इन्द्रियों की गति का मन पर सीधा प्रभाव होता हे। कभी व्यक्ति सोचता है कि इन्द्रियो की चचलता को रोक ली जाय, किन्तु मन की चचलता नहीं रुकती है और वह फिर इन्द्रियों की चचलता को भी नहीं रोक पाता हे। इस कारण सबसे पहले यह सोचा जाना चाहिये कि मन पर अकुश कैसे लगाया जा सकता है? और जब इस प्रश्न का उत्तर खोजने लगेंगे तो समझ मे आ जायगा कि स्पर्शेन्द्रिय याने कि शरीर के व्यापारों को नियन्त्रित करने की चेष्टा करें तो मन को भी सयमित बनाया जा सकेगा। इस दृष्टि से सयम का मूल स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह को कह सकते हें।

मन सारे शरीर के साथ सलग्न होता है। मन जैसे स्पर्शेन्द्रिय के विषय का अनुभव करता हे, वैसे ही कर्णेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय तथा रसेन्द्रिय के विषयो को भी अनुभवता हे। अब यह स्थिति सामने आती हे कि आपने स्पर्शेन्द्रिय के निग्रह का प्रयत्न किया तो स्पर्शेन्द्रिय से लगन वाले मन का तो निग्रह हो गया, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के साथ सलग्न मन का निग्रह कैसे होगा? नाक के जरिये गन्ध का मजा लेने वाला मन कैसे रुकेगा? आप शरीर को भूल कर बिठा दीजिये तो शरीर के साथ व्यवहार करने वाले मन का जितना हिस्सा है, वह रुक जायगा। शरीर के रुकने का अर्थ है मन का रुकना, क्योकि मन के रुके बिना शरीर रुक ही नहीं सकेगा। आपने कान की शक्ति को रोकने की कोशिश की तो कान के साथ रहने वाले मन को रोका तो इस निग्रह से ही कान की श्रवण शक्ति सयमित बन पायगी। किन्तु अन्य सारी इन्द्रिया स्पर्शेन्द्रिय के अधीन होती है और जब तक इसका हलन-चलन नहीं हो या अन्य इन्द्रियो के विषयों के सम्पर्क में नहीं जावे तो अन्य इन्द्रियों को उनकी विषय वस्तुओं की सुलभता नहीं हो सकती है । इस कारण अगर प्रतिसलीनता तप का आचरण स्पर्शेन्द्रिय के नियन्त्रण रूप में सफल बन जाय तथा तदनुसार मन भी सयमित बन जाय तो अन्य इन्द्रियों पर भी समुचित नियन्त्रण स्थापित हो सकता है। शरीर नहीं हिलेगा तो अन्य इन्द्रिया क्या कर सकेगी? इसी कारण यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि यदि स्पर्शेन्द्रिय का पतिसलीनता तप के माध्यम से सयम साध लिया जाय तो अन्य इन्द्रियो व मन पर भी सयम साधना सरल हो जायगा, अत स्पर्शेन्द्रिय निग्रह को सयम का मूल कह सकते हें।

इन्द्रिय निग्रह की साधना

यदि साधक इन्द्रिय निग्रह का कठिन अभ्यास करे तो वह इन्द्रियों की गति पर अपना पूरा नियन्त्रण स्थापित कर सकता हे। यह नियन्त्रण इस रूप में कि उसने किसी इन्द्रिय या सभी इन्द्रियो को जिस साधना मे लगा रखी हो, उससे अन्य क्षेत्र में वे इन्द्रिया कतई नहीं जावे। जैसे कान की श्रवण शक्ति का ही उदाहरण लेल। कोई साधक अपनी साधना में एकाग्र

होकर बैठा हुआ है-सारी इन्द्रियो और मन को उसने एक ध्यान मे लगा रखा है। उस समय भले ही उसके पास से बाजे-गाजे धूम मचाते हुए निकल जावे, किन्तु वह अपने मन को कर्णेन्द्रिय के साथ सयुक्त होने से रोक देता है तो वह धूम-धड़ाके की आवाज उसके कान मे घुसती तक नहीं है। यह आज भी कई साधको के साथ होता है।

एक प्राचीन कथा का उल्लेख है कि एक महात्मा एक धर्मस्थान मे बैठे हुए थे तथा उनका शिष्य अध्ययन की दृष्टि से मकान के अगले हिस्से मे बैठा हुआ था। उसने अध्ययन के साथ ही चिन्तन-मनन किया और उससे भी आगे बढकर निजिध्यासन मे लग गया । मन के सारे व्यापारो को उसने उसी मे एकाग्र बना दिया। उस समय बाजार मे से ढोल-ढमाको के भारी शोरगुल के साथ एक जुलूस धर्भस्थान के आगे होकर निकला। शिष्य तो निजिध्यासन मे एकाग्र था, उसने कुछ सुना ही नहीं। जब कुछ देर बाद वह गुरु जी के पास गया तो उन्होने सहज-भाव से पूछ लिया कि अभी निकला वह जुलूस किस बात का था? शिष्य ने कहा-मुझे तो किसी जुलूस का पता ही नहीं है। गुरु ने कहा- इतने जोरो से ढोल-ढमाके बज रहे थे और तुमने सुना ही नहीं? शिष्य ने यही कहा -मेरा मन तो निजिध्यासन मे एकाग्र था। ढोल-ढमाके बजे होगे किन्तु ध्वनि का वह प्रहार मन की एकाग्रता के कारण मेरे कानो को विचलित नहीं बना सका।

इन्द्रिय-निग्रह की ऐसी साधना आज भी सम्भव है। श्रवणेन्द्रिय एकाग्रता निसेवणीया याने कि श्रवणेन्द्रिय की एकाग्रता का निसेवन किया जाना चाहिये। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय की एकाग्रता का निसेवन करना चाहिये। किन्तु यह एकाग्रता सबसे पहले मन की एकाग्रता पर टिक सकती है- मन का निग्रह अति आवश्यक है। इन्द्रियो या मन के निग्रह का यह अर्थ नहीं कि आप बस्ती की चहल-पहल को छोड़ कर एकान्त पहाड़ो मे ही चले जावे, बल्कि सच्चा निग्रह तो तब होगा जब चारो ओर के भारी कोलाहल मे आपके कान उसे सुने ही नहीं और वे जिस काम मे लगाये गये हैं उसी काम मे लगे रहे। इसी तरह सामने रग-बिरगी भीड़ गुजर रही हो, नेत्र खुले हो-फिर भी एकाग्रता के कारण वह भीड़ उन नेत्रो के दृष्टिपथ मे ही न आवे। सामने उपस्थित पदार्थों के बीच भी ऐसी ही एकाग्रता के कारण अन्य इन्द्रिया भी उनके विषयो मे लिप्त न हो। ऐसी ही स्थिति निग्रह की स्थिति होती है।

इन्द्रियो की ऐसी एकाग्रता की उपलब्धि इस प्रतिसलीनता तप के आराधन से ही प्राप्त हो सकती है। इस तपाराधन के साथ भी ज्ञानीजनो का सम्पर्क तथा शास्त्रीय वाणी का निर्देशन मिले तो आराधन को शीघ्र सफल बना कर इन्द्रियो और मन की निग्रह-शक्ति को सुव्यवस्थित एव सुदृढ़ बना देते हैं।

सम्यक्-ज्ञान, श्रद्धा एवं क्रियापूर्वक निग्रह

जहा जिस इन्द्रिय पर नियन्त्रण पाने की दृष्टि से उसका निग्रह किया जायगा, उस सीमा तक उस इन्द्रिय की गति रुकेगी किन्तु उसी अवस्था में वैसा हो सकेगा जब मन को सम्यक्-

ज्ञान एव सची श्रद्धा के साथ रोकने का प्रयत्न किया जायगा और उसके साथ में आत्मा का सशोधन करने वाली सम्यक् क्रिया पर तदनुसार आचरण भी किया जायगा। इस पद्धति से इन्द्रियों और मन की एकाग्रता की साधना आज भी की जा सकती है तथा उसमें सफलता भी प्राप्त की जा सकती है।

ज्ञान, श्रद्धा और क्रिया के साथ सम्यक् का विशेषण भी जुड़ना चाहिये, वरना कई बार कठिन तप का आराधन भी किया जाता है, लगन और उमग भी होती है, किन्तु यथार्थ की पहिचान नहीं होती है। प्रोफेसर भन्साली का नाम आप में से कई लोगों ने सुना होगा। वे गाधी जी के सान्निध्य में रहते थे। वे विद्वान् थे, फिर भी जब उन्हें आन्तरिक शान्ति का अनुभव नहीं हुआ तो उन्होंने बाहरी झझटो के रूप में नौकरी, परिवार वगैरा को छोड़ दिया। यह सब उन्होंने मन-कल्पित विचारों के साथ किया, किसी से योग्य सम्पर्क नहीं साधा। पाचो इन्द्रियो के निग्रह से शान्ति प्राप्त करने की भावना के साथ वे चले। पाचो इन्द्रियों पर नियन्त्रण की दृष्टि से शरीर पर उन्होंने सिर्फ लगोटी कसी, जिह्वा पर नियन्त्रण की दृष्टि से दोनो होठो को उन्होने एक तार पिरोकर शामिल बन्द कर दिये और वे छाछ मे आटा घोल कर पीने लगे। तप की उन्होने उग्र साधना की व लोगो के तिरस्कार तथा अपनी स्पर्शेन्द्रिय पर उनके प्रहारों को भी उन्होंने सहा। गर्मी-सर्दी मे भी उघाड़े ही रहते तथा इसी प्रकार के अन्य कई प्रयोगो से उन्होने इन्द्रिय निग्रह का अभ्यास किया। तब वे गाधी जी के आश्रम मे पहुचे। गाँधी जी ने उनके सारे क्रिया-कलापो के बारे में जानकारी ली और उन्हे उन प्रयोगों की बजाय भावनापूर्वक नई वातों पर अमल करने की सलाह दी।

पिछले वर्षो मे मैं जब उड़ीसा, मध्य-प्रदेश आदि प्रान्तो मे विचरा, तब छत्तीसगढ भी जाने का प्रसग हुआ। पो० भन्साली का आश्रम छत्तीसगढ़ में है। हमारा वहा मिलना हुआ तो उन्होंने वताया कि उन्होने जो-जो प्रयोग किये और जो-जो सुना जाता है, वह सब सही है। उन्होने यह भी वताया कि जिस विज्ञान से मैंने इन्द्रियों पर निग्रह करने की चेष्टा की, उससे निग्रह करने में तो सफलता नहीं मिली, किन्तु मैं अपग वन गया। तो कहने का तात्पर्य यह है कि शरीर और मन पर निग्रह पाने के लिये जो प्रतिसलीनता का तप किया जावे, उसका आराधन सम्यक्-ज्ञान, श्रद्धा एव क्रिया के साथ होना चाहिये। बाहर से शरीर को कष्ट दे दिया और समुचित भावना के साथ मन पर निग्रह नहीं किया जा सका तो वह शरीर-कष्ट भी व्यर्थ हो जाता है। मन वश मे हो जाय तो सारी सुख सुविधाओ के बीच में रहता हुआ भी शरीर त्यागी वैरागी की तरह रहेगा। निग्रह का सही विज्ञान प्राप्त होना चाहिये।

शरीर और मन की स्वाधीनता

अपने ही शरीर और मन को अपने ही अधीन बनाना भी टेढी खीर होती है। आत्मा इन्हें अपने अधीन रखे और स्वाधीन बन-यही तपाराधन का उद्देश्य होता है। शरीर आर मन का निग्रह करने की दृष्टि से जो प्रति सलीनता तप का आराधन करें-चाहे इसे साधु करे या

19

मन, वचन, काया के योगों का सहकार

- अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जिस माध्यम के जरिये आत्मिक शक्ति का प्रकटीकरण होता है, वह माध्यम योग होता है।
- मोहदशा को जो नियन्त्रण में रखना है या घटाना है, वही विषय- प्रतिसलीनता का तप है।
- पाप का बाप विजातीय के साथ एकान्तवास है ।
- ब्रह्मचर्य से मन, वचन और काया के अशुभ व्यापारों पर निग्रह होकर आत्मा शुभ कार्यों में लगती हैं ।

शान्ति जिन एक मुझ विनती

परमात्मा के चरणो में प्रार्थना के माध्यम से जीवन के स्वरूप को जानने का प्रयास किया जा रहा है। इस अन्तर्जीवन में शान्ति का जो दिव्य स्वरूप विराजमान है, उसे अभिव्यक्ति करने के लिये अनेक प्रकार के प्रयत्न किये जा सकते हैं। आत्मिक शक्ति एव शान्ति का जिन किन्हीं भव्यात्माओं ने विकास किया, उन्होंने उस विकास में पुरुषार्थ के माध्यम को प्रमुख स्थान दिया। पुरुषार्थ से युक्त बनने पर आत्मा अपने योग बल की शक्ति से सर्वोच्च लक्ष्य तक को सिद्ध करने में समर्थ बन सकती है। यह योग बल क्या होता है? योग की परिभाषा बताई गई है कि अन्तराय कर्म के क्षयोपशम से जिस माध्यम के जरिये आत्मिक शक्ति का प्रकटीकरण होता है, वह माध्यम योग होता है।

आत्मिक शक्ति के प्रकटीकरण की दृष्टि से यह माध्यम तीन प्रकार का हो जाता है याने कि योग के तीन भेद हो गये-मनोयोग, वचनयोग एव काययोग। इस शरीर में रहती हुई आत्मा ही वीयन्तिराय कर्म का क्षयोपशम करती है तथा अपनी योग-शक्ति को प्रकट करके इन तीनों योगों के माध्यम से आन्तरिक पवित्रता के परम स्वरूप को प्राप्त करती है। मन, वचन और काया-ये नाम कर्म की प्रकृति के परिणाम होते हैं। इन तीनों की उदय अवस्था मे आत्मिक-शक्ति का सही दिशा मे प्रयोग हो तो आत्मा अपने प्रणिधान को शुद्ध एव पवित्र बना सकती है। इस मानव तन सहित कभी किसी आत्मा ने अपना परम शुद्ध प्रणिधान प्राप्त नहीं किया, न चरम आत्म-कल्याण किया और न मोक्ष की उपलब्धि की। न वर्तमान में ऐसा कोई कर सकती है, न भूतकाल मे किसी ने किया तथा न भविष्य में कोई आत्मा ऐसा कर सकेगी। जब भी परम शान्ति रूप शुद्ध प्रणिधान को प्राप्त करना होता है, तब मन, वचन एव काया के योगों का सहारा लेना पड़ता है। ये योग साधन के रूप में होते हैं, साध्य के रूप में नहीं। साध्य की प्राप्ति मानव तन छोड़ने पर ही होती है।

तीनों योगों का साधन रूप

तीनो योग साधन रूप में माने गये हैं। साध्य तो वही शुद्ध प्रणिधान होता है। परन्तु साध्य की सिद्धि सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन एव सम्यक् चारित्र्य के साथ होती है। इनकी साधना मे सहकार मन, वचन एव काया के योगो का होता है। यदि इन योगों की अवस्था क सही विधि से सही ज्ञान के साथ आत्म-कल्याण के मार्ग पर अग्रसर बनाया जाव तो प्रणिध की स्थिति शुद्ध बनने मे ज्यादा देर नहीं लग सकती है। इन तीनों योगों क अन्तर्गत इन्द्रिया और द्रव्य मन है। पाचो इन्द्रिया अपन-अपने स्वभाव के अनुसार अपन-

विषय ग्रहण करती हैं।

इन पाचो इन्द्रियो के तेईस विषय तथा दो सौ चालीस विकार बताये गये हैं।

श्रवणेन्द्रिय का विषय शब्द श्रवण करने का है जो शब्द जीव, अजीव तथा मिश्र होते हैं।

चक्षुरिन्द्रिय का विषय रूप ग्रहण का होता है, रूप के पाच रग कहे गये है-काला, नीला, लाल, पीला और सफेद ।

घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध लेना होता है जो सुगन्ध और दुर्गन्ध रूप होती है।

रसनेन्द्रिय का विषय रसास्वादन करना है जिन रसो के पाच प्रकार है-तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा।

स्पर्शेन्द्रिय का विषय स्पर्शानुभव करना कहा गया है जो स्पर्श आठ प्रकार के होते है-कर्कश, मृदु, लघु, गुरु, शीत, ऊष्ण, रूक्ष और स्निग्ध।

मन का विषय सकल्प-विकल्प के साथ गति करना माना गया है। सामान्य तौर पर इन्द्रियो और मन के ये विषय हैं जो अपने शुभ रूप में भी होते हैं तथा अशुभ रूप मे भी वर्तते हैं। ये विषय दोनो प्रकार की अवस्थाओ मे रमण करते है।

यदि आत्मिक शक्ति शुद्ध प्रणिधान की दिशा मे गतिशील बनती है तो श्रवणेन्द्रिय के द्वारा उन शब्दो को सुनने की चेष्टा की जायगी जो शुद्ध प्रणिधान के निर्माण मे साधन रूप होते है। वह अप्रशस्त विषय को ग्रहण नहीं करेगी। नेत्र भी रूप की दृष्टि से रूप को ग्रहण तो करेगे परन्तु अप्रशस्त रूप को ग्रहण नहीं करेगे। वे किन्हीं त्यागी सन्त महात्मा के दर्शन करके आन्तरिक रूप से प्रफुल्लित होगे। यह उनका प्रशस्त विषय होगा। जहा कही सुगन्ध या दुर्गन्ध का विषय घ्राणेन्द्रिय के सामने आया तो वहा समभाव की स्थिति रहेगी। वैसे ही रसना के स्वाद और त्वचा के स्पर्श में समता का अनुभव होगा। इसलिये प्रशस्त अवस्था को शुभ योग की सज्ञा दी गई है। इससे अप्रशस्त विषय का निरोध होता है। अप्रशस्त विषय आत्मा को अपने मूल स्वरूप से विस्मृत बनाते है तो प्रशस्त विषय आत्मा को अपने मूल स्वरूप का ध्यान दिलाते हैं। इस कारण अप्रशस्त विषयो का निरोध करना-यही प्रतिसलीनता का तप कहलाता है।

विषय-प्रतिसंलीनता तप

प्रतिसलीनता तप के सम्बन्ध में जो चर्चा चल रही है, उसमे वह तप जो अप्रशस्त विषयों का निरोध करने में सहायक बनता है, एक भेद रूप मे विषय-प्रतिसलीनता तप कहलाता है। इसका अर्थ है-विषयों मे अपनी अवस्था से गोपन करना, जो अप्रशस्त विषयो के सन्दर्भ में किया जायगा। अप्रशस्त विषयों की तरफ जीवन मे जो लगाव देखा जाता है, वही लगाव जब अति प्रगाढ बन जाता है तो वह आत्मा को अप्रशस्तता की चरम सीमा तक भी ले जा सकता है। वह आत्मा को अपनी स्वय की ही विस्मृति मे डाल देता है। इस अवस्था

में आत्मा को गहरी बेहोशी जैसी आ जाती है। ऐसी बेहोशी की हालत में आत्मा को प्रणिधान की शुद्धता के सम्बन्ध में कोई जागरण नहीं रहता और ऐसी ही हालत में मन, वचन तथा काया के योग भी अनियन्त्रित हो जाते हैं। इन योगों का यदि आत्मिक-शक्ति सही तरीके से प्रयोग करती है तो ऐसी बेहोशी नहीं आती है, लेकिन गलत तरीके से प्रयोग करने पर यह बेहोशी बढ़ती जाती है। यह अपने आप ही अपने नेत्रों पर कपड़ा डालना होता है और प्रयास करें तो अपने ही हाथों कपड़ा हटाया भी जा सकता है। आत्मा अपने को स्वय ही मारती है और स्वय ही तारती है। पतन या उत्थान का क्रम मोहदशा पर आधारित होता है। इस मोहदशा को जो नियन्त्रण में रखना हे या घटाना है, वही विषय- प्रतिसलीनता का तप है।

कभी-कभी मेरे भाई जिज्ञासा से यह प्रश्न करते हैं कि मोह की अप्रशस्तता क्या है? मोहदशा पर नियन्त्रण कैसे प्राप्त किया जा सकता है? मोह का रूप मदिरा के प्रभाव जैसा होता है। मन, वचन और काया के योगों में मदिरा जैसा नशा इस प्रकार छा जाय कि आत्मा अपने मूल स्वभाव चेतना की सज्ञा को विस्मृत करती हुई मूर्छित अवस्था में पहुच जाय। सज्ञाहीन या मूर्च्छा की अवस्था ऐसी होती है जिसमें कर्त्तव्य बुद्धि लुप्त सी हो जाती है। मोहदशा की मूर्च्छा में आत्मा अपना होश खोकर किंकर्त्तव्य विमूढ बन जाती है। मोह-मूर्च्छा में भले ही कोई क्षणिक सुखाभास की महसूसगिरि करले-वैसी ही जैसी एक शराबी को शराब के मतवालेपन में होती है, किन्तु वस्तुत वहा न तो चेतना होती है और न सच्चा सुख। जीवन में मोहदशा से उत्पन्न सज्ञाहीनता या कि मतवालापन इस तरह फैल जाता है जैसे कोई डॉक्टर इस प्रकार का इन्जेक्शन लगादे और बेहोशी आ जाय। आत्मा की ऐसी बेहोशी की हालत का नशा किस प्रकार जीवन में सम्बन्धित होता है, इसका आध्यात्मिक विज्ञान के अनुसार यदि वैज्ञानिक दृष्टिकोण लिया जाय तो स्पष्ट होगा कि आत्मा की शक्तियों को आवृत्त करने वाले-ढकने वाले आठ कर्म होते हैं। ये आठ कर्म आत्मा की प्रमुख आठ शक्तियों को आच्छादित करते हैं। इन आठ कर्मो मे मोह कर्म सर्वाधिक बलवान होता है। इस कर्म के क्षयोपशम में यदि आत्मा जाग्रत बन जाय तो सम्पूर्ण कर्म-क्षय का मार्ग निष्कटक बन सकता है।

मोह कर्म की अप्रशस्त दशा

इस मोह कर्म की दशा जब अप्रशस्त रूप में परिणित होती है, उस समय यदि आत्मा जाग्रत हो तो वह अपने मन, वचन एव काया के योगों का गोपन करके मोह की मारक शक्ति से अपनी रक्षा कर लेती है। किन्तु यह जाग्रति प्रतिसलीनता तप के प्रभाव से सम्भव है। अप्रशस्त अवस्था उसे कहते हैं, जब आत्मा अपनी बेहोशी में मन, वचन एव [illegible] शून्य विकृत एव नष्ट करने मे लग जाती है। यह अप्रशस्त अवस्था [illegible] है। इसी कारण अपनी अप्रशस्तता का भान अधिकाश आत्माओं [illegible] है। इसी बेहोशी मे आत्माए अपनी शक्तियों को प्रणिधान की शुद्धता [illegible]

लगाकर प्रणिधान की अशुद्धता बढ़ाने मे लगाती रहती है। सोचिये कि इस अप्रशस्त अवस्था मे मन, वचन एव काया के योगो को विकारो मे लगा कर आत्मिक शक्तियो का कितना ह्रास किया जाता है? यह एक प्रकार से आत्मघात के समान होता है। अपने आपको जान-बूझ कर कोई नहीं मारता, आत्म-हत्या किसी न किसी बेहोशी के कारण से ही की जाती है। मन, वचन एव काया की बहुमूल्य शक्तियो का श्रेष्ठ प्रयोग आत्मा का सर्वोच्च विकास साध सकता है किन्तु इन्हीं शक्तियो का जब पतनकारक दुरुपयोग किया जाता है तो वह दशा कितनी दयनीय होती है? आज भव्य प्राणियो की यह कैसी विचित्र दशा हो रही है कि वे समझ कर भी नहीं समझते ।

अप्रशस्त मोह की स्थिति मे आत्म-जागरण की आवश्यकता होती है क्योकि उस जागरण मे आत्मा प्रतिसलीनता के तपाराधन मे अभिरुचि रखने लगती है और इस तपाराधन से तब मोहदशा के निग्रह के साथ नष्ट होते हुए शक्ति स्त्रोतो का केन्द्रीकरण होता है तथा उनमे प्रणिधान की शुद्धता का सचार होने लगता है। इस कारण प्रतिसलीनता का तप प्रत्येक ससारी आत्मा के लिये हितावह होता है। मोह के विकारो के सम्बन्ध में आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता जो कुछ चिन्तन प्रस्तुत करते हैं, वह पूर्ण नहीं है। अभी तक उनका चिन्तन गहरी अनुभूतियो को नहीं पकड़ पाया हैं। वे अपने बाहरी अनुभवो के आधार पर जो कुछ कह रहे है, उससे यह प्रतीत होता है कि वे आन्तरिक जीवन मे सक्रिय रहने वाले सूक्ष्म तत्त्वो का विश्लेषण नहीं कर पाये है। मन की वृत्तियो की कुछ दूरी तक ही वे पहुच पाये है, उनकी गहराई अभी मनोवैज्ञानिको की पकड़ से बहुत दूर है। ज्ञान के क्षेत्र मे भी अप्रशस्त मोह बहुत बड़ा बाधक स्वरूप होता है। यह मस्तिष्क को शून्य बना देता है और उसे गहरे चिन्तन मे प्रविष्ट नहीं होने देता है। ऐसी अवस्था मे जो निष्कर्ष निकाले जाते है, वे अपूर्ण होते हैं। जैसे क्लोरोफार्म या अन्य किसी ऐसे पदार्थ से शरीर की सवाहक नाड़िया शून्य हो जाती है, उसी प्रकार इस अप्रशस्त मोह के कारण ज्ञान तन्तु भी शून्य से हो जाते है। अप्रशस्त मोह से प्रभावित दशा मदिरा पान की अवस्था के समान शून्य, असम्बद्ध एव दिशाहीन बनी रहती है।

आत्मा की सावधानी से त्राण

अप्रशस्त मोह के उदय की अवस्था में यदि आत्मा की सावधानी बनी हुई रह जाय या जाग्रति आ जाय तो आत्मा उसमे अपने त्राण का मार्ग खोज सकती है एव अपने प्रणिधान की शुद्धता की रक्षा कर सकती है। मदिरा का नशा भी तो आखिर ऐसी ही सावधानी से छूटता है। इस सावधानी को बनाने और बढ़ाने के लिये आवश्यकता इस बात की होती है कि मनुष्य इस प्रकार के जाग्रतिकारक साहित्य का अध्ययन करे, चिन्तन-मनन का क्रम बढावे तथा तप के विविध प्रकारो मे शरीर को तपाता रहे। यह क्रम लम्बा होगा। जब तक वह केवलज्ञानी न बन जावे-यह क्रम चलता रहना चाहिए। इसके साथ ही साथ तब तक विजातीय सयोग से भी उसे पृथक् रहना चाहिये। विजातीय सयोग से पृथक् रहने का अभिप्राय यह है कि लैंगिक

पृथकता की मर्यादाओं का निर्वाह किया जाय। मोह का सबसे बड़ा सेनापति काम होता है। काम इतना उद्दीपक होता हे कि उसे थोड़ा सा रास्ता मिलने पर भी वह बहुत फैल जाता है। यहा जाति से अर्थ पुरुष और स्त्री जाति से है तो दोनों जातिया काम और मोह से बचने के लिये विजातीय सयोग से दूर रहें। पुरुष और स्त्री का एकान्तवास अप्रशस्त मोह मदिरा की उत्तेजना को गाढ़ी वना देता है।

कई लोग इस तरह सोचते हैं कि क्या हमारा मानस इतना कच्चा है जो पारस्परिक सम्पर्क मात्र से काम के वशीभूत हो जायेंगे? जितना अधिक काम पर किसी का नियन्त्रण हो- यह अच्छी वात है, किन्तु काम की प्रवलता के आगे हर कोई टिका हुआ नहीं रह सकता है। इतिहास वताता है कि अच्छे-अच्छे ऋषि महर्षि और तपस्वी भी काम की ज्वालाओ में झुलस गये और पतित वन गये। बुद्धि की दृष्टि से काम-जय की बात कहना आसान है किन्तु अनुभृति की दृष्टि से वहुत कठिन है। जिसने अनुभूति की दृष्टि से अपनी सुदृढता नहीं बनाई है, वह काम के साथ सघर्ष मे हार खा जाता है। यही कारण है कि तीर्थंकरों और आत्म-जाग्रति के साधकों ने शुद्ध प्रणिधान एव चरित्र निर्माण की लक्ष्य-पूर्ति के लिये ब्रह्मचर्य को अनिवार्य वताया। आत्मसिद्धि के किसी भी साधक या विरक्त को विजातीय लिगी या पिड्करहित स्थान में रहना चाहिये। ब्रह्मचर्य की विविध मर्यादाओं के सम्बन्ध में आचाराग सूत्र में बहुत ही विस्तार से वर्णन आया है। यह वर्णन वीतरागदेव की आन्तरिक अनुभूति से अद्भूत हुआ है। समग्र रूप में साधना करने वाले साधक या साधु को वीतराग देव के वचनों में पूर्ण आस्था रख कर प्रतिक्षण आत्मा की सावधानी को बनाये रखनी चाहिये। जहा तक आत्मा की सावधानी वनी रहती है, मोह-कर्म के साथ उसके सघर्ष में उसके त्राण एव उसकी सफलता का मार्ग खुला रहता है।

तपों में उत्तम ब्रह्मचर्य तप

तवे सु वा उत्तम वभचेर

यह शास्त्रकारों का वाक्य है कि तपो में उत्तम ब्रह्मचर्य तप होता है। साधुओं को तो सम्पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना होता ही हे किन्तु यदि कोई गृहस्थ भी सजोड़े शील व्रत अगीकार करे तो यह विषय-प्रतिसलीनता तप का पालन कहलायगा। ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करने के वाद गृहस्थ अवस्था मे भी शैय्याए पृथक्-पृथक् होनी चाहिये। बल्कि कक्ष भी पृथक् होना चाहिये। यह काम को जीतने तथा प्रतिसलीनता के तपाराधन का पहला सोपान होगा। यदि इस प्रकार की मर्यादाओ का पालन नहीं किया जाता है तो कहीं न कहीं से विकृति प्रवेश कर जाती है और फिर विकार के विस्तार को रोक पाना दुष्कर वन जाता है।

इस सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक दृष्टान्त का उल्लेख आता है। धारानगरी में महाकवि [illegible] रहते थे। कालान्तर मे उनकी पत्नी का देहान्त हो गया। एक वार राज्यसभा में बैठे हुए धारानगरी के नरेश को कुछ नवीन अनुभूति हुई तथा उन्होंने सबके सामने प्रश्न

उपस्थित किया कि पाप का बाप कौन है? राज्यसभा मे कई विद्वान् बैठे हुए थे और सभी उस प्रश्न के उत्तर के सम्बन्ध में विचार करने लगे। जब किसी से कोई उत्तर नहीं बन बड़ा तो लोगों ने महाकवि कालीदास की ओर सकेत किया कि इस प्रश्न का उत्तर राजपडित दे। कालीदास ने इसके लिये चौबीस घण्टो का समय मागा जो उन्हें दे दिया गया। घर पहुच कर वे ग्रन्थो को इधर-उधर टटोलने लगे कि उस प्रश्न का कहीं उत्तर मिले। पत्नि थी नहीं, उनकी विवाहित पुत्री भोजन कराने आई तो उसे उन्होने कह दिया कि आज वे जटिल समस्या मे फसे है, भोजन नहीं करेगे। पुत्री भी विदुषी थी। उसने पूछा-पिताजी, ऐसी भी क्या समस्या है? काश, मै कुछ बतादू।

कालीदास ने अपनी पुत्री से कहा-बेटी, जब मुझसे भी उत्तर खोजा नहीं जा रहा है तो तुम क्या बताओगी ?

फिर भी बताइये तो सही-पुत्री ने आग्रह किया और कालीदास ने राज्यसभा की घटना सुनाकर उपस्थित प्रश्न बता ही दिया और कहा कि उन्हे इसका उत्तर कल ही देना है, वरना राजपद छिन जाने का खतरा पैदा हो गया है। पुत्री ने कहा कि इस समस्या का समाधान इन पुस्तको में मिलने वाला नहीं है, अभी तो आप भोजन कर लीजिये। मैं ससुराल जाकर अभी ही जल्दी वापिस आ रही हू, तब आपको इसका समाधान बता दूगी। यह कह कर वह अपनी ससुराल के मकान में चली गई।

कालीदास ग्रन्थों का अवलोकन कर ही रहे थे कि वह वापिस आई और बोली-आज रात मैं यहा ही सोऊगी। सुबह आपको समाधान बता दूगी। अभी तो मुझे नींद आ रही है। और वह पिता जी के कमरे मे ही सो गई। वे भी कई ग्रन्थो को देखने के बाद निराश होकर सो गये। मध्य रात्रि मे वही काम का अप्रशस्त विषय उपस्थित हुआ और कालिदास अपना भान भूलने लगे। काम का मतवालापन धीरे-धीरे उन पर इतना सवार हुआ कि वे अपनी ही पुत्री से प्रणय-याचना करने लगे और फिर तो बलात्कार पर उतारू होने लगे। पुत्री चतुर भी थी। वह दीपक बुझा देने के बहाने उठी और पहले से योजित तरीके के अनुसार पास के दूसरे कमरे मे चली गई तथा उसने अन्दर से उसकी कुण्डी चढा ली। जब प्रात काल का प्रकाश फैला और कालीदास के मन का अन्धेरा भी दूर हुआ तो वे पश्चाताप की आग मे जलने लगे कि रात को वे यह कैसी हरकत कर बैठे। वे सोचने लगे कि मैं अपनी पुत्री को अपना मुह ही कैसे दिखाऊ? वे आत्मघात करने लगे। तभी पुत्री वहा आई और उसने उन्हें रोकते हुए कहा कि वे यह क्या कर रहे है? कालीदास अपने मुह से कुछ बोल भी नहीं सके। उनकी पुत्री बोली-जो होना था सो हो गया, पिता जी, किन्तु मैंने इसकी योजना जान-बूझकर बनाई थी ताकि आपको अपने प्रश्न का उत्तर मिल जाय।

पुत्री की इस बात पर कालिदास चौंके । तब पुत्री ने बताया-आप राज्यसभा में आज जाकर कह सकते हैं कि पाप का बाप विजातीय के साथ एकान्तवास है। कहने का अभिप्राय

यही है कि ब्रह्मचर्य की जो मर्यादाए हैं, उनका पालन आवश्यक है और यही प्रतिसलीनता तप की साधना है। ब्रह्मचर्य को सारे तपों में उत्तम इसी कारण से बताया गया है कि इससे मन, वचन तथा काया के अशुभ व्यापारों पर निग्रह होकर आत्मा शुभ व्यापारो मे प्रवृत्त होती है।

मन, वचन, काया के योगो का निग्रह

चरित्र सम्बन्धी मर्यादाओं के बनाने का अर्थ ही यह होता है कि जहा तक हो, फिसलने का मौका ही नहीं आवे। कई बार यह विश्वास हो जाता है कि मन, वचन एव काया की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध मे पूरे नियन्त्रण की क्षमता पैदा हो गई है, फिर भी सहकारी कारण सामग्री के सामने होने एव भोग्य स्थिति सुलभ बन जाने से वह क्षमता अनजाने मे ही टूट जाती है और ऐसा मालूम होता है कि यह तो अचितनीय रूप से घटित हो गया है। नदी के पानी को बाध कर एक बाध बनाया जाता है जो अपनी पक्की दीवार से मजबूत होता है। जब तक वह दीवार अपनी ठोस शक्ति से पानी के भारी प्रवाह को रोके रखती है तब तक तो बाध भरा रहता है, लेकिन कल्पना कीजिये कि उस लम्बी चौड़ी दीवार में कहीं भी एक जर्रे जितना छेद हो जाय तो उस बाध का भाग्य क्या होगा? वह जर्रे जितना छेद बड़ा होते-होते एक दिन सारी लम्बी चौड़ी दीवार को तोड़ देगा और वह बाध टूट जायगा। चारित्र्य के बाध की भी ऐसी ही स्थिति होती है। मन, वचन एव काया के योगो का निग्रह किया हुआ है जिसका रूप बाध की दीवार की तरह ठोस समझ मे आता है-मोह और काम का पानी उस दीवार से बन्धा रहता है। निग्रह की ऐसी ठोस अवस्था के बावजूद यदि कहीं विजातीय के साथ एकान्तवास का मौका आ गया या किसी दूसरी कारण सामग्री का सयोग हो गया तथा जर्रे जितना भी उस निग्रह मे छेद बन गया तो पूरा बाध बनाने की सारी तपस्या पल भर मे विगलित हो सकती है।

उच्चारण करने लग जाय। मन मे माता, वचन मे माता तो काया मे भी फिर माता का स्वरूप ही अकित हो जायगा। माता की भावना और माता शब्द के उच्चारण के साथ जब दृष्टि के विषय मे भी माता ही का रूप आता है तो उस रूप दर्शन से अप्रशस्त मोह दशा पर कठिन नियन्त्रण लग जायगा तथा मन, वचन एव काया के योगो के निग्रह से बहुत बड़े तप की साधना बन जायगी।

अन्तर्भूत वैज्ञानिक विषय

यह कितना अन्तर्भूत वैज्ञानिक विषय है जिसकी गहराई मे आधुनिक मनोविज्ञान वेत्ताओ का पहुचना एक दुष्कर कार्य है। मै इस अन्तर्भूत वैज्ञानिक विषय को आत्मानुभूति के साथ समझाना चाहता हू किन्तु कोई तर्क-वितर्क के साथ इसको समझना चाहे तो वैसे भी समझा सकता हू। उच्च आधुनिक अध्ययन करने के बाद भी डॉक्टर ए के बोरदिया ने अपनी आत्मिक शक्तियो को सुरक्षित रखने की दृष्टि से अपने पिता को विवाह करने से इन्कार कर दिया ओर वे अब तीनो योगो के व्यापारो पर निग्रह रख कर चल रहे है। फिर भी उनके मस्तिष्क में आधुनिक ज्ञान को लेकर कई उलझने थीं। वे विगत चातुर्मास मे जयपुर मे मुझसे मिले थे और उन्होंने काफी प्रश्न भी किये थे। मैने जो उत्तर दिये उनसे उनका समाधान हो गया। उनके साथ उनके साथी अशोककुमार जी झा भी थे। कहने का तात्पर्य यह है कि अप्रशस्त मोह एव काम के प्रबल थपेड़ो से बचने के साधन प्रतिसलीनता तप के बारे मे गम्भीरता से चिन्तन होना चाहिये और उस पर यथाशक्ति आचरण करने की प्रत्येक विकासशील आत्मा की सतत् चेष्टा होनी चाहिये।

अप्रशस्त मोह की माया बड़ी विचित्र होती है। ऊचा आत्मिक विकास साध लेने के बाद भी कभी-कभी इस अप्रशस्त मोह का धक्का इतना तेज हो जाता है कि वह आत्मा को फिर से पतन के गर्त मे पटक देता है। वही कारण है कि मन, वचन, काया के योगो एव व्यापारो पर निरन्तर नियन्त्रण बना रहना चाहिये, जो नियन्त्रण प्रतिसलीनता के तपाराधन से ही बना रह सकता है। इस तप के छोटे-मोटे रूपो पर भी यदि साधना आरम्भ कर दी जाय, तब भी निग्रह क्षमता मे बड़ा सुधार मालूम होने लगेगा। आन्तरिक जागरण के साथ इस तपाराधन से शुद्ध प्रणिधान का निर्माण और अप्रशस्त मोह की अवस्थाओ पर कठिन नियन्त्रण की स्थिति बन कर उनका क्षयोपशम होने लगता है। जिन आत्माओं मे इस पकार की जाग्रति आती है, वे मोह और काम की दशाओ मे उलझती नहीं है तथा विकट समस्याओ की उपस्थिति मे भी अपनी आन्तरिक शक्तियो को सुरक्षित रखते हुए वे उच्चतम विकास साध लेती है।

गगाशहर-भीनासर

दि० ४-१२-७३